ज्यवाद
सू सेटन वाट्सन

नया साम्राज्यवाद

लेखक :

ह्यू सेटन वाट्सन

अनुवादक :

हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार

प्रकाशक :

नेशनल एकाडमी

६, अंसारी मार्केट

दरियागंज, दिल्ली-६

विषय-सूची

साम्राज्यवाद का अर्थ

वादार्थक तथा वैज्ञानिक—दोनों प्रकार के—विशाल साहित्य में 'साम्राज्य-वाद' शब्द की विविध व्याख्याएँ की गई हैं। अभी तक इसकी कोई व्याख्या सर्वमान्य नहीं हो पाई है और कोई नई परिभाषा करने की कोशिश करने का यह उचित स्थान नहीं है। तो भी, यह आवश्यक है कि सामान्य शब्दों में यह स्पष्ट कर दिया जाय कि आगामी पृष्ठों में 'साम्राज्यवाद' शब्द से क्या कुछ समझा जायगा।

'साम्राज्यवाद' शब्द का कम से कम आवश्यक अर्थ एक राष्ट्र के व्यक्तियों का दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व का स्थापन है। सम्भव है कि यह प्रभुत्वस्थापन किसी सरकार के सुविचारित निर्णय का परिणाम रहा हो—जैसा कि तब हुआ जब कि उस्मानी शासकों ने बालकन प्रायद्वीप और कुस्तुनतुनिया को जीतने का निर्णय किया। फिर, यह उन साहसिकों की करतूत का परिणाम भी हो सकता है जो किसी सुदूरवर्ती अधिराट् में निष्ठा रखते हैं और अपने विजयोपहारों को उसे भेंट कर देते हैं : वर्जीनिया उपनिवेश की स्थापना अथवा स्पेन द्वारा मैक्सिको की विजय इसके उदाहरण हैं। कभी-कभी तो ऐसा हो जाता है कि सारी की सारी जाति ही किसी नये प्रदेश में प्रविष्ट हो जाती है और मातृभूमि के किसी शासक को मान्यता न देकर स्वयं इसके निवासियों को पराजित कर देती है। मध्यएशिया के इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं और दक्षिणी अफ्रीका के बूर ट्रेकरों का मामला इसका एक नया उदाहरण है। एक तीसरे प्रकार की स्थिति तब उत्पन्न हो जाती है जब विजेता (विजय के पश्चात्) अपनी जन्मभूमि के शासक के प्रभुत्व को मानने से इन्कार कर देते हैं—जैसा कि दक्षिणी और उत्तरी अमरीका के उपनिवेशियों ने किया; ये लोग मूल इण्डियनों के विजेता तो रहेंगे ही—भले ही इन्होंने स्वयं अपने लिये स्वाधीनता के उच्च सिद्धान्तों की घोषणा क्यों न कर दी थी।

विजयों का परिणाम या तो मूल आबादी का समूलोन्मूलन होता है अथवा विजेता द्वारा इसके श्रम का शोषण होता है। अधिकतर साम्राज्यवादी विजयों

के परिणामों में इन दोनों प्रक्रियाओं का विविध अनुपातों में संयोजन दिखाई देता है।

विजयों के प्रेरक कारण बहुत ही विविध रहे हैं। इन में सबसे अधिक सीधा-सादा कारण व्यवहार्य भौतिक सम्पत्ति तथा गुलामों की लूट रहा है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी में यूरोप के विस्तार का सम्भवतः सामान्यतम लक्ष्य समुद्री अथवा स्थल मार्ग द्वारा व्यापार करना था। व्यापार नियमित रूप से चलता रहे, इसके लिये यह आवश्यक था कि मंडियों में प्रवेश की, परिवहन-मार्गों की तथा संगृहीत माल की, सुरक्षा बनी रहे। सुरक्षा के लिये स्थायी कानूनों की और उनको प्रभावशाली रूप में मनवाये जाने की आवश्यकता थी। ऐसे मामलों में जब झगड़े हो जाते थे तो प्रदेश को थोड़ा-थोड़ा करके दबोच लिया जाता था और अन्त में सरकारों का तख्ता पलट कर प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया जाता था। उन्नीसवीं सदी के अन्त में कच्चे माल और खनिजों की खोज भी कभी-कभी विजयों का कारण बनी। परन्तु विजयों के कारण प्रायः ऐसे भी रहे जो भौतिक नहीं थे। परिणाम भले ही विजितों के लिये और भी अधिक अरुचिकर रहा हो, परन्तु तो भी अन्तर वास्तविक है। उत्तरी अमरीका को उपनिवेश बनाने में उन प्रवासियों का बड़ा हाथ रहा जो किसी नई भूमि पर पहुँचकर अन्तरात्मा को स्वतन्त्र देखने की चेष्टा में थे। धर्मप्रचारकों की विजयों के प्रत्यक्ष उदाहरण—जिनका प्रयोजन असभ्य मूर्तिपूजकों को बलात् सत्य ग्रहण कराना था—सातवीं तथा आठवीं सदी की अरब-विजय और स्पेन वालों द्वारा दक्षिणी अमरीका के एक बड़े भू-भाग की विजय हैं। विजय के कारण का एक और भेद सामाजिक बुराइयों को मिटाने के हेतु सशस्त्र हस्तक्षेप है। पूर्वी अफ्रीका के एक बड़े भाग को अंग्रेजों द्वारा अपने राज्य में मिलाये जाने का कारण अरबी दास-व्यापार को दमन करने की उनकी इच्छा ही थी।

परन्तु विदेशी शासन को औपचारिक रूप से लागू किये बिना भी प्रभुत्व जमाया जा सकता है। उस्मानी साम्राज्य और चीन, उन्नीसवीं सदी में अपर-देशीय वैध स्थिति का लाभ उठाने वाले यूरोपीय व्यापारियों को व्यापारिक सुविधाएँ देने के लिये विवश हो गये थे। ये व्यापारी वहाँ औपचारिक शासन तो भले ही नहीं चलाते थे, परन्तु इनको वहाँ की उस्मानी और चीनी प्रजाओं की अपेक्षा विशेष अधिकार अवश्य मिले हुए थे : ये लोग आतिथेय जाति के साथ प्रायः इतनी उद्दण्डता से पेश आते थे कि पहले पहल भले ही मौन रूप

से ही सही, उन पर बहुत ही तीव्र रोष प्रकट किया जाता था।

अंग्रेज अर्थशास्त्री हाब्सन ने, १९०२ में प्रकाशित अपनी 'इम्पीरियलिज़्म' (साम्राज्यवाद) नाम की पुस्तक में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के आपसी सम्बन्ध पर बल दिया है। मार्क्सवादी रोज़ा लक्षेम्बर्ग, रुडोल्फ़ हिल्फरडिंग और वाल्दीमिर लेनिन ने इसी पक्ष को और अधिक स्पष्ट किया। कोई भी सच्चा विद्यार्थी इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि इस समस्या के समाधान में मार्क्सवादी सम्प्रदाय ने जो योगदान दिया है, वह बहुमूल्य है। परन्तु समसामयिक साम्यवादी कट्टरपन्थी इससे अधिक का दावा करते हैं। इनका दावा यह है कि लेनिन ने साम्राज्यवाद का पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण कर उसकी परिभाषा कर दी है। साम्राज्यवाद पूंजीवाद की ही देन है और जब उत्पादन, वितरण तथा विनमय के साधनों को किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहने दिया जाता और इस प्रकार पूंजीवाद की इतिश्री कर दी जाती है, तब साम्राज्यवाद का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। निजी पूँजी के बिना साम्राज्यवाद रह नहीं सकता, समाजवाद के शासन में साम्राज्यवाद को कोई स्थान नहीं है।

साम्राज्यवाद की यह एक अत्यन्त ही संकुचित धारणा है। व्यक्तिगत पूँजी-वाद के युग से पहले भी एक जाति पर दूसरी जाति का प्रभुत्व तथा उसका शोषण प्रचलित था और आज उन देशों में भी जहाँ निजी पूँजीवाद नहीं है, इस प्रकार का प्रभुत्व विद्यमान है। सोवियत संघ में निजी पूँजी नहीं के बराबर है और उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार है। परन्तु सोवियत सरकार ९ करोड़ गैररूसी प्रजाओं पर प्रत्यक्ष तथा यूरोपीय पिछलग्गू राज्यों के ९ करोड़ व्यक्तियों और एशियाई पिछलग्गू राज्यों के दस लाख व्यक्तियों पर अप्रत्यक्ष हुक्म चलाती है।

यूरोपीय साम्राज्यों का, निजी पूँजीवाद पर स्थापित प्राचीन साम्राज्यवाद संसार के तख्ते से जल्दी-जल्दी उठता चला जा रहा है। ग़ैर-यूरोपीयों पर यूरोपियों का प्रत्यक्ष शासन दक्षिणी अफ्रीका के एक बड़े भाग में (भले ही यह किसी मातृभूमि-स्थित सरकार का हो अथवा जैसा कि 'युनियन' में है, किसी ऐसी सरकार का है जिसकी सत्ता का एकमात्र स्थान अफ्रीका में ही है), एशिया के कुछ स्थानों में तथा प्रशान्त महासागर के कुछ स्थानों में अभी तक विद्यमान है। यह भी कहा जा सकता है कि दक्षिणी अमरीका के कुछ राज्यों में विदेशी पूंजी का जो शासन चलता है, वह अप्रत्यक्ष साम्राज्यवाद के समकक्ष
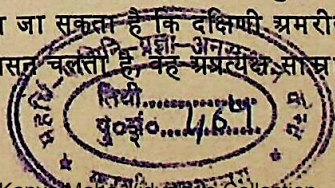
ही तो है। फिर भी, यूरोपीय उपनिवेशी राष्ट्रों और उत्तरी अमरीकी व्यापारी वर्ग की ह्रासोन्मुख शक्ति की तुलना में सोवियत संघ का नया साम्राज्यवाद तो प्रबल बना हुआ है ही—इसने १९४५ से अपने राज्य का विशाल परिमाण में विस्तार किया है तथा आगे और अधिक विस्तार का लक्ष्य बनाया हुआ है। इसका उद्गम दुहरा है। एक ओर तो सोवियत सरकार को वह रूसी साम्राज्य उत्तराधिकार में मिला है जिसकी आधे से अधिक प्रजा जारों द्वारा विजित गैर-रूसी है। दूसरी ओर सोवियत सरकार पर साम्यवादी दल का शासन विद्यमान है और इस दल की प्रेरणा का स्रोत उसका जीवनोद्देश्य बनायी हुई वह विचारधारा है जिसको वह, उन राष्ट्रों पर भी, कि जिन्होंने अभी तक साम्यवादी निष्ठा अथवा साम्यवादी रीति-रिवाजों को स्वीकार नहीं किया है, जब भी कभी अवसर मिल जाय, कालोचित किसी भी साधन द्वारा, थोप देना अपना कर्त्तव्य मानता है।

आगामी पृष्ठों में हम प्राचीन रूसी साम्राज्य की विरासत से आरम्भ करके, बोलशेविक (साम्यवादी) क्रांति तथा द्वितीय विश्व युद्ध में सोवियत संघ की विजय के परिणामभूत नये लक्ष्यों और नई पद्धतियों का निरूपण करते हुए सोवियत साम्राज्यवाद के ऐतिहासिक रिकार्ड का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।
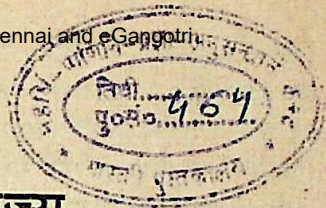
रूसी साम्राज्य

यूरोपीय रूस एक ऐसा देश है जिसकी प्राकृतिक सीमाएँ नहीं हैं; वन और स्तेपी दो प्रदेशों में विभक्त यह एक विशाल मैदान है; इसमें बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती हैं जिनमें से सबसे बड़ी नदियों के नाम द्नेप्र और वोल्गा हैं। प्राचीन काल में जैसे दूसरे देशों में सेनाओं के बलबूते पर राज्य बने और बिगड़े, वैसे यहाँ भी अनेक राज्य क्रमशः स्थापित हुए और नष्ट हुए। पहला रूसी राज्य नवीं सदी में अथवा इससे कुछ पूर्व वन और स्तेपी प्रदेशों के मध्यवर्ती भू-भाग पर द्नेप्र नदी की घाटी के चारों ओर स्थापित हुआ था और इसमें वे लोग बसे थे जो आधुनिक रूसी भाषा के आदि रूप एक स्लाव बोली के बोलने वाले थे। इस राज्य की राजधानी कीयेव (कीव) थी और इसके शासक ६८८ में ईसाई हो गए थे। यह बढ़ता-बढ़ता उत्तर तथा पूर्व के जंगलों तक जा पहुंचा; इन जंगलों के निवासी फिन्नी या तो मारे गये अथवा भाग गये और बचे-खुचे ईसाई बन गये तथा उन्होंने रूसी भाषा अपनाली। कीयेव राज्य में अलग-अलग रजवाड़ों के आपसी झगड़ों के कारण यद्यपि दलवन्दियाँ बनी रहीं और पूर्व दिशा से स्तेपियों में प्रविष्ट होने वाले घुमन्तुओं ने लूट-खसोट मचाये रखी, तथापि, मुख्यतया बिज़ैन्टिअम अथवा कुस्तुनतुनिया के प्रभाव के कारण सभ्यता पर्याप्त मात्रा में पनपी और यूरोप के मध्यकालीन सम्राटों के साथ इसने राजनयिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध बनाये रखे।

महान् विजेता चंगेज़ खाँ के एक पोते मंगोल कुमार बातू ने १२३६ तथा १२४० के मध्य कीयेव राज्य को नष्ट कर दिया। रूसी राजा अब 'गोल्डन होर्ड' नाम के नये राज्य के करद बन गये; इस नये राज्य की राजधानी निम्न वोल्गा पर स्थित साराय नगर थी। गोल्डन होर्ड के शासक खान, मंगोल विजेताओं के उत्तराधिकारी थे, परन्तु इस प्रदेश के निवासी, मंगोल नहीं, तातार थे। ये लोग तुर्की से बहुत ही मिलती-जुलती भाषा बोलते थे। चौदहवीं सदी में तातार शासक इस्लाम मतानुयायी बन गये। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं सदियों में विविध रूसी राजों में से मास्को नगर स्थित राज, [ ]र्वी अथवा ग्रीक चर्च

(ऑर्थोडॉक्स चर्च) की ठोस सहायता पाकर, दूसरे सभी राज्यों में प्रमुख बन बैठा और फिर तातारी खानों से स्वतन्त्र हो गया। तातारी शिविर में फूट पड़ जाने के कारण यह पिछला काम अधिक सरल हो गया था। 'गोल्डन होर्ड' अब तीन राज्यों में बँट गया था—ये क्रमशः मध्य वोल्गा के कज़ान पर, वोल्गा के मुहाने पर स्थित अस्त्राखान पर और क्रीमिया प्रायद्वीप पर स्थापित हुए। मस्कोवी (रूस) के ज़ार, इवान चतुर्थ ('टैरिबल—'विकट') ने कज़ान को १५५२ में और अस्त्राखान को १५५६ में जीत लिया।

यह तो प्रेक्षक के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है कि वह मस्कोवी के वोल्गा तक हुए इस विस्तार को चाहे तो 'विमुक्ति' समझे अथवा 'साम्राज्यवाद' कहे। कीव राज्य घाटी के एक भाग को अपने राज्य में मिला चुका था, परन्तु इसका कारण, निश्चय ही, पहले की विजय थी। तातारों ने इसे जीतकर हथियाया था और अब उसी उपाय से आधीन कर लिया गया। परन्तु यद्यपि रूसी कुलीन और किसान सोलहवीं सदी से ही इस क्षेत्र को अपना उपनिवेश बनाते चले आये, तो भी यहाँ तातार बड़ी संख्या में बने ही रहे और साथ ही कुछ वे छोटे-छोटे बोलीसमूह भी बने रहे जो न रूसी थे न तातार थे, और जिनमें से कुछ न ईसाई और न मुसलमान ही थे। रूसी साहित्य और लोककथाओं में वोल्गा नदी एक महान् 'रूसी नदी' के नाम से वर्णित है, परन्तु यह सिद्ध कर देना भी उतना ही सम्भव है कि उन्नीसवीं सदी के ठीक अन्त तक, यह नदी, जनसंख्या की दृष्टि से, तातार अर्थात् तुर्की नदी थी।

मस्कोवी और तातारों का आपसी सम्बन्ध कैस्टीलों (स्पेन के) और मूरों के आपसी सम्बन्ध से भिन्न नहीं है। (पश्चिमी गौथों में के) विज़ीगौथों के स्पेन राज्य का निर्माण उस 'साम्राज्यवादी' विजय का परिणाम था जिसका शिकार रोमन साम्राज्य हुआ था। विज़ीगौथों को अरबों ने जीता और इन्होंने कम-से-कम पाँच सौ वर्षों तक स्पेन की भूमि पर एक अत्यन्त उत्कृष्ट सभ्यता को स्थापित रखा। अब देखिये, ईसाई ऐतिहासिकों की दृष्टि में तो (इन) मूरों को हानि पहुँचाकर, छोटे-छोटे उत्तरी राज्यों का विस्तार कर लेना 'पुनर्विजय' अर्थात् स्पेन की विमुक्ति था। परन्तु मुसलमानों के दृष्टिकोण से यह उत्तरी बर्बरों का आक्रमण था। रूस और स्पेन—दोनों देशों—में पुनर्विजय के युद्ध धर्मयुद्ध माने जाते रहे। दोनों पक्षों में विद्यमान धार्मिक जोश के कारण इनमें कटुता और क्रूरता का अंश और अधिक हो गया था।

जहाँ तक रूस का सम्बन्ध है, यह प्रक्रिया वोल्गा घाटी की विजय के

पश्चात् रुके नहीं। क्रीमिया के तातार आगामी दो सौ वर्षों तक दुर्जेय बने रहे। उनकी पीठ पर सबसे बड़ा इस्लामी राज्य, उस्मानी (तुर्की) साम्राज्य था; १४७५ में तातार इन्हीं के गुलाम बन गये। यह उस्मानी साम्राज्य, जिसकी राजधानी पूर्वी (ग्रीक) ईसाई सम्प्रदाय का पवित्र नगर कुस्तुनतुनिया थी, कृष्ण सागर के सभी तटों पर अपना अधिकार जमाए हुए था और इस प्रकार इसने मस्कोवी (रूस) को मध्यसागरी जगत् में घुसने नहीं दिया। यद्यपि महान् पीटर (१६८६-१७२५) को क्रीमिया और उस्मानी साम्राज्य के विरुद्ध लड़े गये युद्धों में कुछ सफलता अवश्य मिली, परन्तु क्रीमिया प्रायद्वीप को निश्चित रूप से रूस के आधीन १७८३ तक नहीं किया जा सका।

* * *

भूगोल की दृष्टि से रूस को यूरोप और एशिया इन दो भागों में बाँटना कृत्रिम है और रूस के इतिहास की दृष्टि से तो इसका कोई अर्थ ही नहीं है। युराल पर्वतमाला को वास्तविक प्राकृतिक आड़ नहीं कह सकते। रूसी राज्य के पूर्वी विस्तार का वास्तविक मूल तो ईसाई और मुस्लिम संस्कृतियों का वह आपसी संघर्ष हैं जो वोल्गा के साथ के प्रदेश में और कृष्ण सागर के स्तेपी प्रदेशों (ऐसे प्रदेश जिनको जोता-बोया न जाता हो) में हुआ—ये दोनों ही प्रदेश यूरोप नाम से विख्यात भौगोलिक क्षेत्र में स्थित हैं। परन्तु जब इवान चतुर्थ ने कज़ान और अस्त्राखान को जीत लिया तो साहसी रूसियों के लिए पूर्व दिशा में आगे बढ़ना सरल हो गया। सत्रहवीं सदी के दौरान में रूसियों ने साइबेरिया में अपनी बस्तियाँ बसाईं और रूस से सुदूर पूर्व (पूर्वी एशिया) में वे आमूर नदी तक जा पहुँचे। यहाँ १६८६ में चीन के साथ नेर्चिस्क की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए और इस सन्धि ने लगभग दो सौ वर्षों तक रूसी साम्राज्य की सीमा निश्चित रखी। अठारहवीं सदी में कमचात्का प्रायद्वीप पर रूसी प्रभुसत्ता स्थापित हुई और रूसी खोजियों ने कुरील द्वीपों से अपना सम्पर्क स्थापित कर लिया। सदी के अन्त तक अलास्का में रूसी बस्तियाँ बस गई थीं।

इधर तो स्पेन के इतिहास में ऐसे युद्ध मिलते हैं जिनकी तुलना तातारों से हुए मास्को के युद्धों से की जा सकती हैं। उधर साइबेरिया में उपनिवेश स्थापना उत्तरी अमरीका में उपनिवेश स्थापना से मिलती-जुलती घटना है। साइबेरिया और उत्तरी अमरीका—दोनों ही प्रदेश—छितरी आबादी के देश थे। साइबेरिया के निवासी भी उतने ही आदिकालीन (असभ्य) थे जितने

रेड इण्डियन थे और उनका उन्मूलन भी उतनी ही क्रूरता से किया गया। रूसी उपनिवेशी यदि क्रूर थे तो वे अपने अमरीकी तुल्य रूपों-सरीखे साहसी भी थे और उनमें अगुआ की-सी व्यक्तिगत तत्परता भी थी। उनमें से बहुत से तो गुलामी से अथवा मजहबी अत्याचार से बच कर आये थे : इस बात में भी अमरीकी मामले से अद्‌भुत समता पाई जाती है तथापि अमरीकी एक बात में अधिक भाग्यशाली थे—महासमुद्र ने उनको यूरोप से अलग कर रखा था। इसी कारण मौका मिलते ही उत्तर तथा दक्षिण के अमरीकी इङ्गलैंड और स्पेन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर पाये। (उधर रूस में) स्थल-सञ्चार का निरन्तर बना रहना रूसी स्वेच्छाचारी शासकों के पक्ष में रहा। अन्त में सेंटपीटर्सवर्ग की सरकार ने साइवेरिया के असंस्कृत व्यक्तिवादियों को धर दबोचा। यह सब हुआ परन्तु फिर भी वे, ठीक १९१७ तक, अपनी आजादी को और आत्म निर्भरता की भावना को जारों की दूसरी प्रजाओं से अधिक मात्रा में बनाये रख सके।

* * *

मस्कोवी का विस्तार केवल पूर्व और दक्षिण में ही नहीं हुआ। जिन दिनों रूस तातारों के आधीन रहा उन दिनों इसके पश्चिमी सीमान्तप्रदेश—स्वयं कीव समेत—लिथुआनिया के काफ़िर शासकों ने जीत लिये थे और यह लिथुआनिया बाद में पोलैंड में मिल गया था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों के अवधिकाल में पौलैंड की गिनती यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों में होती रही और रूस से इसका संघर्ष प्रायः चलता रहा। शासकों की प्रादेशिक महत्वाकांक्षाएँ साम्प्रदायिक विद्वेष से कटु हो गई थीं—इसका कारण यह था कि पोलैंड को कैथोलिक सम्प्रदाय का वीर योद्धा माना जाता था और रूस के जारों का यह दावा था कि वे एकमात्र सच्चे धर्म के संरक्षक बिज़ैन्टाइन सम्राटों (३९५ ईसा पूर्व से १४५३ ईस्वी तक के पूर्वी अथवा ग्रीक सम्राटों) के उत्तराधिकारी हैं।

युक्रइन (युक्रेन) की खातिर मस्कोवी और पोलैंड के मध्य हुए संघर्ष की तुलना, शायद, बरगण्डी-लौरेन और निम्न प्रदेशों (नीदरलैंड, हॉलैंड और बेल्जियम) के नियन्त्रण को लेकर हुए फ्रान्स और पवित्र रोमन साम्राज्य के संघर्ष से की जा सकती है। जैसे हॉलैंड और लौरेन के निवासी न फ्रांसीसी थे, न ही वे जर्मन ही थे, ठीक उसी प्रकार युक्रेनी और श्वेतरूसी न पोल थे और न वे रूसी ही थे। युक्रैना का अर्थ है किनारा, सीमा, सरहद। युक्रेन,

वस्तुतः पोलैंड-मस्कोवी (रूस)—क्रीमिया तथा मोल्दाविया के बीच का एक स्वामिहीन प्रदेश था। पोलैंड और रूस—दोनों के भगोड़े गुलाम अपने मालिकों से बचकर छितरी आबादी के इन अकृष्ट मैदानों में शरण लेने चले आते थे। द्नेप्र (नीपर) नदी के उन स्थलों के इधर-उधर जहाँ उसका वेग बहुत तीव्र था, योद्धाओं अर्थात् ज़ेपोरोज़ियन (युक्रेनी) कज़्ज़ाकों के एक समुदाय ने अपना निजी सैनिक राज्य स्थापित कर लिया। इनका सामाजिक और राजनीतिक संगठन अनगढ़ ही था। ये लोग किसी को अपना शासक नहीं मानते थे तथा पड़ौसी राज्यों से युद्ध अथवा राजनय का सञ्चालन स्वयं करते थे। सत्रहवीं सदी के मध्य में नीपर नदी के पूर्वी तट की जनता ने, एक महान् नेता बोह्दान ख़्मेल्नीत्स्की के नेतृत्व में पोलैंड के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। १६५४ में पोलों का कठोर दबाव पड़ने पर ख़्मेल्नीत्स्की ने मस्कोवी के ज़ार से एक समझौता किया जो पैरेयास्लाव्ल की सन्धि के नाम से विख्यात हुआ। इस सन्धि के विविध अर्थ लगाये गये हैं: दो राज्यों के मध्य मैत्री-सम्बन्ध; व्यक्तिविशेष के माध्यम से बना दो राज्यों का संघ; अथवा ऑर्थोडॉक्स रूसियों का रूसी ज़ार के प्रति सीधा-सादा आत्मसमर्पण। व्यवहार में हुआ यह कि पूर्वी तट के कज़्ज़ाक आगामी पचास वर्षों तक अपने सरदार को स्वयं चुनते रहे, उसको वे 'हेतमान' कहते थे। यह हेतमान जार को अपना सम्राट् तो मानता था परन्तु उसके अधिकार एक स्वतन्त्र शासक के अधिकारों से शायद ही कुछ कम रहे हों। १७०९ में महान् पीटर और स्वीडन के चार्ल्स द्वादश के मध्य युद्ध हुआ; उस युद्ध में हेतमान आइज़क माज़ेपा ने स्वीडन का साथ दिया। इसी कारण अपनी विजय के बाद पीटर ने कज़्ज़ाकों का स्वशासनाधिकार छीन लिया। स्वभावतः पूर्वी तटवर्ती युक्रेन को रूसी साम्राज्य में मिला लिया गया और इसका शासन जार द्वारा नियुक्त पदाधिकारी करने लगे। सदी के अन्त तक (१७७२, १७९३ और १७९५ में हुए) पोलैंड के तीन विभाजनों द्वारा सीमांत प्रदेशों का शेष भाग भी रूस में मिला लिया गया।

इन विजयों द्वारा युक्रेन रूस में मिल अवश्य गया, परन्तु इसकी जनता क्या थी? कैथोलिक और ऑर्थोडॉक्स तो परम्परा से अलग-अलग थे। पोलों के शासन के समय भूस्वामी और पदाधिकारी कैथोलिक तथा पोल रहे थे और अधिकांश किसान ऑर्थोडॉक्स थे। इन पिछलों को सामान्यतया 'लिटल रशियन' कहते थे। इन लोगों की बोलियाँ मस्कोवी की 'ग्रेट रशियन' भाषा से भिन्न थीं। इनके सामाजिक रीति-रिवाज भी केन्द्रीय रूस के सामाजिक

रीति-रिवाजों से भिन्न थे। विशेषकर इनमें वह ग्राम पंचायत ही नहीं थी जो रूसी कृषक समाज का तो केन्द्र ही थी। उनकी कानूनी और सांस्कृतिक प्रथाएँ पश्चिमी थीं और उन पर पोलों का प्रभाव बहुत अधिक था। उनका एक अल्पसंख्यक वर्ग युनियेट (उनियात) चर्च का अनुयायी था। इस युनियेट चर्च की स्थापना १५९५ में कैथोलिक सम्प्रदाय की एक पृथक् शाखा के रूप में इस उद्देश्य से की गई थी कि रूसी लोग ग्रीक चर्च को छोड़कर रोमन चर्च की ओर झुक जाँय, परन्तु वस्तुतः हुआ यह कि इसके सदस्य पोलों और रूसियों—दोनों—से अलग पड़ गये। युक्रेन के निवासी अपने आप को रूसी लोगों से भिन्न समझते थे—इनको वे **मौस्काली** कहते थे और इनके प्रभुत्व को, यद्यपि पोलों के प्रभुत्व से तो सब मिलाकर अच्छा ही समझते थे, मन ही मन बुरा मानते थे। अठारहवीं सदी में जब रूसी सेनाओं ने तातारों को पीछे खदेड़ दिया और क्रीमिया को निश्चित रूप से अपने राज्य में मिला लिया तो जो अकृष्ट भूमियाँ अब तक लगभग खाली पड़ी थीं वे अब पहले की पोल भूमियों से आने वाले लोगों से भरने लगीं। इस प्रकार सदी के अन्त तक यूरोपस्थित रूसी साम्राज्य का सारा दक्षिणी भाग 'लिटिल रशियन' बोली बोलने वाले लोगों से भर गया।

उस समय कोई युक्रेनी राष्ट्र था—यह कहना कालगणना की एक भूल कहलाएगी। परन्तु उन्नीसवीं सदी के अवधिकाल में यह एक राष्ट्र अवश्य बन गया था। इस अवधि में एक ऐसा छोटा-सा शिक्षित वर्ग बन गया था जिसको रूसी भाषा का ज्ञान होते हुए भी अपनी निजी बोली पर गर्व था और वह 'लिटल रशियन' बोलियों के आधार पर एक साहित्यिक युक्रेनी भाषा के निर्माण का यत्न कर रहा था। इस लक्ष्य की पूर्ति में सबसे अधिक योग रहा महान् कवि टारस शेवचैंको (१८१२-१८६१) का। यह एक क्रांतिकारी जनतन्त्रवादी भी था। एक बार जब युक्रेनी साहित्यिक भाषा का रूप बन गया तब वह रूस से युक्रेनी भावना के तादात्म्य के और अन्तर के स्थिर होने का बिन्दु बन गया। सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण भाषायी अन्तर बढ़ा और एक युक्रेनी चेतना उत्पन्न हो गई। युक्रेनी राष्ट्रीयता के विकास को इस तथ्य से भी सहायता मिली कि आस्ट्रिया ने पोलैंड के विभाजनों के सिलसिले में पूर्वी गैलीशिया में रहने वाली युक्रेनी बिरादरी के पर्याप्त भाग को अपने आधीन कर रखा था। युक्रेन के इस पश्चिमी भाग में पूर्वी (ग्रीक) चर्च की अपेक्षा युनियेट चर्च अधिक प्रबल था और यही उस युक्रेनी

राष्ट्रीयता का यह बना हुआ था जिसका लक्ष्य पोलों और रूसियों दोनों—का विरोध करना था। १७७५ में तुर्की सम्राज्य से छीनकर आस्ट्रिया में मिलाये गये बुकोविना प्रान्त के उत्तर में और हंगरी राज्य के ईशान कोण, रुथेनिया में भी युक्रेनियन बसे हुए थे।

* * *

अठारहवीं सदी में पोल राज्य को उसके तीन लालची पड़ोसियों—रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया ने आपस में बांट लिया और इस प्रकार वह छिन्न-भिन्न हो गया। १७९५ के अन्तिम विभाजन समेत इन विभाजनों में रूस को न केवल युक्रेन का अधिक बड़ा भाग ही मिला परन्तु उसको 'श्वेत रूस' नाम से प्रसिद्ध सीमान्त प्रदेश का अधिक उत्तरी भाग भी मिल गया। यहाँ भी शासक और भूस्वामी देर से पोल ही चले आये थे, परन्तु किसान साधारणतया 'श्वेत रूसी' नाम से प्रसिद्ध अनेक बोलियाँ बोलते थे। धर्म की दृष्टि से उनमें से कुछ कैथोलिक, कुछ उनियात (युनियेट) और कुछ ऑर्थोडॉक्स थे। युक्रेन की भाँति, श्वेत रूस भी "रूसी भूमि" का इस अर्थ में एक भाग था कि मंगलों तथा लिथुआनिया द्वारा की कई विजयों से पहले यह कीव राज्य का रह चुका था। युक्रेन निवासियों की भाँति, श्वेत रूसियों की प्रथाएँ और उनका दृष्टि-कोण मस्कोवी प्रथाओं और दृष्टिकोण से भिन्न थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में एक श्वेतरूसी साहित्यिक भाषा की रचना का आन्दोलन खड़ा हुआ और श्वेतरूसी राष्ट्रीयता के प्रथम लक्षण दृष्टिगोचर हुए। ये दोनों ही युक्रेन में की, इनसे मिलती-जुलती प्रवृत्तियों से कम प्रस्फुट हुए थे।

विभाजनों का परिणाम यह हुआ कि पोल पर्याप्त संख्या में रूसी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गये। १८१५ में नैपोलियन की पराजय हो जाने पर रूस ने पोलैंड के कई और भागों को अपने आधीन कर लिया। १८१५ के उस समझौते से, जिसको पोलैंड का चौथा विभाजन नाम देना चाहिए था, पोलैंड का एक अवशिष्ट राज्य स्थापित हो गया जिसका रूस से संयोग केवल इसके शासक अलैक्ज़ैंडर प्रथम के माध्यम से ही था : इसे रूस का साम्राट् और पोलैंड का राजा कहलाया जाना था। यह व्यक्ति-निर्भर मेल भली-भाँति निभ नहीं सका; इसका कारण यह था कि किसी भी पक्ष ने दूसरे पक्ष के अधिकारों का ध्यान नहीं रखना चाहा। १८३० में पोलों ने रूस के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और एक वर्ष तक युद्ध करते रहने के पश्चात् वे पराजित हो गए। इसके बाद वे स्वयं शासन के अपने अधिकांश अधिकारों को गँवा

बैठे । १८६३ में उन्होंने फिर विद्रोह किया और फिर हार गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८३० से १९१७ तक तो (पोल भाषा भाषी कैथोलिक इस) संकीर्णतम अर्थ में पोल राष्ट्र का अधिक बड़ा भाग जार की विजित प्रजा बना रहा।

पोलैंड के विभाजनों से रूस को श्वेत रूस के उत्तर में लघु-कैथोलिक-लिथुआनिया वालों की जन्मभूमि मिल गई थी। (इस संकीर्णतर जातीय अर्थ वाले लिथुआनिया और अधिक व्यापक ऐतिहासिक अर्थ वाले उस लिथुआनिया में अवश्य ही अन्तर है जिसमें पूर्वी पोलैंड का एक बड़ा भाग युक्रेन और श्वेत रूस का अधिकांश सम्मिलित हैं।) लिथुआनिया का उत्तरी भाग कुर्लैण्ड-लिवोनिया और एस्टलैंड नाम के तीन रजवाड़े थे; इनमें भूस्वामी और व्यापारी जर्मन थे और किसान लातविया और ऐस्तोनिया वाले थे। ये तीनों ही राष्ट्रीय दल प्रोटेस्टैंट थे। इन इलाकों को रूस ने अठारहवीं सदी में अपने राज्य में मिला लिया।

* * *

युक्रेन के दक्षिण में स्थित इलाकों पर पन्द्रहवीं सदी से उस्मानी तुर्कों का शासन चला आता था। इनमें से रूस का निकटतम मोल्दाविया था; इसकी बहुसंख्यक आबादी रूमानिया वालों की थी, ये लोग ऑर्थोडॉक्स ईसाई थे परन्तु भाषा अपनी ही बोलते थे जो प्रमुखतया लैटिन है और उसमें स्लाव शब्दों की भरमार है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में टर्की के विरुद्ध हुए कई युद्धों में रूसी सेनाएँ मोल्दाविया पर तथा मोल्दाविया एवं डैन्यूब के बीच में स्थित रूमानिया के दूसरे रजवाड़े वालाश्विया पर अधिकार कर चुकी थीं। रूस की नीति का यह लक्ष्य कभी से था कि इन देशों को अपने राज्य में मिला-लिया जाय। परन्तु इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हुई। अधिक से अधिक यही किया जा सका कि द्नेस्त्र तथा प्रुत नदियों के मध्यस्थित मोल्दाविया के पूर्वी अर्धभाग को मिलाया जा सका। यह भाग १८१२ में रूसी बना और इसका नाम बेसाराबिया रखा गया। इसकी आबादी बहुसंख्या में रूमानियावालों की थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य में मोल्दाविया का शेष भाग वालाश्विया से मिलकर एक सामन्त राज्य बन गया और बाद में यही रूमानिया नाम से स्वतन्त्र राज्य बन गया और यह इस प्रकार रूस के आधीन होने से बचा रहा।

यूरोपीय रूस के सुदूर उत्तर में इसका पड़ोसी स्वीडन था। स्वीडन ने शताब्दियों से फिनलैंड को सम्मिलित किये रखा था। रूस तथा स्वीडन की

कई लड़ाइयाँ फिनी भूमि पर लड़ी गई थीं। अठारहवीं सदी में थोड़े समय तक विजेता सैन्यशक्ति के रूप में रह कर स्वीडन की बड़ी शीघ्रता से अवनति हुई। १८०८-९ में रूसी सेनाएँ फिनलैंड पर छा गईं। अलेक्सान्द्र प्रथम ने फिनलैंड का ग्रान्ड ड्यूक बनने का निर्णय किया। उसने अपनी इस रियासत की कानूनी पद्धति और उसके राजनीतिक विधि-विधानों को छीना नहीं, उन्हें रूस से सर्वथा पृथक् रहने दिया। यह व्यक्ति-निर्भर मेल, १८१५ से १८३० तक के पोलैंड और रूस के व्यक्ति-निर्भर मेल के विपरीत, शताब्दी के अन्त तक भली भान्ति निभा।

दक्षिण-पूर्व में, १५५६ में अस्त्राखान पर अधिकार कर लेने के बाद मस्कोवी काकेशिया-निवासियों के सम्पर्क में आया। पश्चिम से पूर्व तक अड़ी हुई पर्वत-माला के मध्य भाग में बसे हुए कबारदिया और ओसेतिया के लोग रूसियों के साथी बने। पर्वत शृंखला के पश्चिमी भाग तथा कृष्णसागर की ओर उतरने वाले ढलानों पर बसने वाले सिरकैशियन रूस के विरोधी थे और ये लोग अपने संरक्षण की आशा समुद्रपारीण तुर्की से लगाये रहते थे। पर्वतमाला के पूर्वी छोर पर कैस्पियन समुद्र के साथ वाली नीची भूमि की पट्टी के द्वारा फारस में आसानी से प्रवेश किया जा सकता था। इस पट्टी के पीछे, काकेशस के पूर्वी भाग की पर्वतमाला में चेचना और दागिस्तान के निवासी किसी भी आक्रान्ता से अपनी आज़ादी की रक्षा के लिये मरने-मारने को तैयार रहते थे।

मुख्य काकेशस-पर्वतमाला से परे दो बड़े नदी-क्षेत्र हैं—इनके मध्य विभाजक रेखा लघु काकेशस पर्वतमाला है और इनके मुख क्रमशः कृष्णसागर और कास्पियन सागर की ओर हैं और इस प्रकार इन पर क्रमशः तुर्की और फारस का सैनिक-आक्रमण सम्भव है। यह जार्जियन लोगों की मातृभूमि है जो चौथी शताब्दी से ईसाई हैं तथा अपने पड़ौसियों की भाषा से सर्वथा भिन्न भाषा बोलते हैं। परन्तु कास्पियन सागर के समीपतम प्रदेश को जार्जियन लोगों से आठवीं सदी में अरबी मुसलमान आक्रान्ताओं ने जीत लिया था और कुछ समय बाद इसमें तुर्क आ बसे थे, जो अपने शासक ईरानियों की भाँति शिया मुसलमान थे। उनको अजेरी तुर्क कहकर पुकारते हैं और उनका देश आज़रबैजान नाम से विख्यात है। जार्जिया और आज़रबैजान से परे अर्मीनिया के लोगों की मातृभूमि थी; इन ईसाई लोगों का इतिहास जार्जियन लोगों से भी पुरातन था; और छठी शताब्दी के अन्ततक ये लोग उस्मानी तथा ईरानी साम्राज्यों में बँट गये थे—उस्मानी साम्राज्य में इनका बड़ा भाग था।

अठारहवीं सदी में रूस ने ईरान से कई लड़ाइयाँ लड़ीं। इन लड़ाइयों में जार्जियन लोग रूस के साथी रहे। १७८३ में जार्जिया के प्रमुख राज्य ने अपने आपको रूस के संरक्षण में सौंप दिया और १८०१ में इसके शासक जार्ज त्रयोदश ने प्रार्थना की कि इसे प्रत्यक्ष रूप से रूस में मिला लिया जाय। दूसरे जार्जियन रजवाड़ों को रूसी शस्त्रों की सहायता से जीतना पड़ा। १८१३ में ईरान ने बाकू प्रायद्वीप समेत आज़रबैजान का आधा भाग रूस को सौंप दिया। १८२८ में ईरान ने अर्मीनिया का अपना भाग भी दे दिया। ट्रांस्काकेशिया में रूसी-तुर्की युद्धों के विविध परिणामों के अनुसार रूस और तुर्की की सीमाएँ कई बार बदलीं परन्तु इस परिवर्तन से प्रभावित भूभाग कुछ बड़े नहीं थे। आर्मीनियन लोगों का एक बड़ा भाग जो रूस द्वारा अपने राज्य में मिलाया जाना पसन्द करता, तुर्की में रह गया। उन्नीसवीं सदी के प्रथमार्ध भर में काकेशस पर्वतमाला के पश्चिमी और पूर्वी छोरों के लोगों ने रूस का भंयकर विरोध किया। चेचेनों को १८५९ तक तथा सरकैशियाइयों को १८६४ तक पूर्णतया पराजित नहीं किया जा सका था।

* * *

साइबेरिया में रूसी औपनिवेशिक क्षेत्र के दक्षिण में तथाकथित किरगिज़-स्तेपियाँ (आज कज़ाखस्तान नाम से प्रसिद्ध) हैं। ये अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में धीरे-धीरे रूसी प्रभुसत्ता के अधीन हुईं थीं। यहाँ के लोग खानाबदोश (घुमक्कड़) पशुचारी थे जो कबीले अथवा गिरोह बनाकर रहते थे। स्तेपियों के दक्षिण में खेतीबाड़ी की संस्कृति और प्राचीन संस्कृति वाली, तुर्केस्तान नाम से विख्यात वे बस्तियाँ थीं जो ऑक्सस (आमूर-दरिया) और जक्सारटीज़ (सिर-दरिया) की घाटियों के चारों ओर एकत्रित हो गई थीं। इनमें समरकन्द, बुखारा सरीखे प्रसिद्ध नगर बसे हुए थे। रूस और इन बस्तियों के शासकों के आपसी सम्बन्ध कटु थे। बुखारा, खीवा अथवा कोकान्द के खानों के प्रजाजन रूसी प्रदेश पर धावा बोल देते अथवा रूसी प्रजाजनों को—अधिकतर वोल्गा घाटी से आनेवाले तातार व्यापारियों को—लूट लेते थे अथवा पकड़ लेते थे। ऐसी छुटपुट घटनाओं की निरन्तरता रूसी सरकार के सिर का दर्द बनी हुई थी। रूसी और तातार व्यापारियों को तुर्केस्तान को रूसी शासन के आधीन कर लेने में व्यापारिक लाभ प्रतीत होता था। स्थानीय रूसी सैनिक शासकों को यश और पदोन्नति मिल जाने की आशा थी। सच बात तो यह है कि भारत, चीन, और उत्तरी अफ्रीका में अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी

साम्राज्यों की सीमाओं पर कबीलों का जो संयोग उपस्थित था वही यहाँ भी उपस्थित था । १८६० से आरम्भ होने वाली दशाब्दी में रूसी सरकार ने तुर्के-स्तान को अपने राज्य में मिलाने का निर्णय किया । १८६४ की दूसरी यूरोपीय सरकारों के नाम भेजे गये एक परिपत्र में रूसी विदेश मन्त्री ने इस कार्यवाही को रूस की सीमाओं की सुरक्षा की सुनिश्चितता के लिये न्याय्य ठहराया । उसका तर्क यह था कि ब्रिटेन तथा संयुक्तराष्ट्र के अनुभव ने यह बता दिया है कि जब कोई सभ्य राज्य बर्बर लोगों के सम्पर्क में आता है तब शिष्ट बनाने वाले राष्ट्र के लिये यह आवश्यक हो जाना है कि वह अपनी प्रजाओं की रक्षा करने और बर्बर आक्रमणों का दमन करने के लिये अपनी सीमा का निरन्तर विस्तार करता रहे । उस समय की महान् शक्तियों ने इस तर्क को सर्वथा युक्तिसंगत समझा और यह वस्तुतः उनके अपने आचरण के सर्वथा अनुरूप था । १८६५ में रूसियों ने ताशकन्द पर अधिकार कर लिया और वह मध्य एशियाई प्रदेशों की राजधानी बन गया । १८७३ में एक अल्पकालीन सैनिक अभियान के पश्चात् रूसियों ने खीवा और बुखारा के खानों को ऐसी सन्धियाँ करने के लिए विवश कर दिया जिनके अनुसार उन्हें प्रदेश देना पड़ा और आर्थिक क्षतिपूर्ति करनी पड़ी और बचा-खुचा प्रदेश रूसी संरक्षण में देना पड़ा । १८७६ में कोकांद के खान का राज्य रूसी साम्राज्य में मिला लिया गया । ऑक्सस (अमूर दरिया), कास्पियनसागर और ईरानी सीमा से घिरे देश के निवासी तुर्कमेनों से कुछ कटु युद्धों के पश्चात्, १८८१ तथा १८८४ के मध्य इन विजयों को पूरा किया गया ।

* * *

इसी अन्तर में सुदूर पूर्व में रूस को ठोस प्राप्तियाँ हुईं । चीन और पश्चिमी शक्तियों के मध्य छिड़े युद्ध से लाभ उठाकर रूसी सरकार ने चीनियों के सन्मुख अपना 'बीच-बचाव' का प्रस्ताव पेश कर दिया और मई १८५८ की आइगुन की सन्धि के अनुसार निम्न अमूर, उसूरी के साथ इसके संगम और प्रशान्त महासागरीय तट के मध्यवर्ती त्रिभुजाकार क्षेत्र को देना मनवा लिया । दो वर्ष के बाद जब चीन पर ब्रिटेन तथा फ्रांस ने फिर आक्रमण कर दिया तब रूसियों ने पेकिंग-सन्धि के द्वारा, उसूरी तथा समुद्र का मध्यवर्ती कुछ और इलाका प्राप्त कर लिया और इसके अधिक दक्षिणी बिन्दु पर उन्होंने ब्लादि-वोस्तोक बन्दरगाह की आधार शिला रखी । १८७५ में रूस-जापान के मध्य जो सन्धि हुई उससे साखालीन द्वीप पर रूस का स्वामित्व निश्चित हो गया, इसके बदले में कुरील द्वीप समूह सारा-का-सारा जापान में मिला लिया गया ।

१८६० से प्रारम्भ होने वाले दशक में रूस ने सुदूरपूर्व में विस्तार की प्रबल नीति अपनाये रखी। इसका लक्ष्य प्रदेशों को हस्तगत करने का इतना नहीं था जितना कि उत्तर में विशाल आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करना और पेकिंगस्थित चीनी सरकार पर राजनीतिक नियन्त्रण करना था। फ्रांसीसी पूँजी की सहायता से रूस ने पहले तो मंचूरिया को पश्चिम से पूर्व तक लाँघने वाले चीनी पूर्वी रेल पथ को प्राप्त किया और बाद में चीनी पूर्वी रेलपथ पर स्थित हारबिन से पीत सागर तक फैले दक्षिण मंचूरिया रेलपथ को लिया। साथ ही रूस ने ल्याओतुंग प्रायद्वीप तथा नौसैनिक अड्डे पोर्टआर्थर और दाल्नी (दाइरेन) के व्यापारिक बन्दरगाह को किराये पर ले लिया। इतने से भी सन्तुष्ट न होकर रूसी सरकार ने कोरिया में प्रमुख प्रभाव स्थापित करने का प्रस्ताव कर दिया। प्रभाव क्षेत्रों के सम्वन्ध में रूस के साथ सौदेबाजी के जापान के सभी प्रयत्न रूस ने विफल कर दिये। रूसी दुराग्रह का परिणाम १६०४-५ का रूसी-जापानी युद्ध हुआ जिस में जापान जीत गया। इसके बाद जो शान्ति सन्धि हुई उसके अनुसार रूस को ल्याओतुंग प्रायद्वीप, दक्षिण मंचूरिया रेलपथ, और आधा साखालिन छोड़ना पड़ा परन्तु चीनी पूर्वी रेलपथ इसके अधिकार में रहा आया। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्ववर्ती अन्तिम दशाब्द में चीन, यूरोपियन राष्ट्रों और अमरीका को तुच्छ मानते हुए रूसी और जापानी सरकारों ने आपस में सहयोग किया। दक्षिणी मंचूरिया और कोरिया जापानी प्रभाव क्षेत्र में थे और रूस उत्तरी मंचूरिया तथा मंगोलिया में सर्वोपरि था, मंगोलिया में मंगोलों की चीनी प्रभुत्त्व से बच निकलने की वास्तविक इच्छा का लाभ उठाकर रूस ने वहाँ पर एक प्रभावशाली रूसी संरक्षण लाद दिया।

इस प्रकार तातार-आधिपत्य को छोड़देने के बाद चारसौ वर्षों के भीतर ही मस्कोवी रजवाड़ा एक विशाल रूसी साम्राज्य बन गया था। विस्तार की भौगिलिक लम्बाई-चौड़ाई इतिहास में अपना सानी नहीं रखती; परन्तु विस्तार की पद्धतियाँ किसी भी रूप में विलक्षण नहीं हैं। यूरोप तथा अमरीका के इतिहास में प्रसिद्ध विस्तार तथा 'साम्राज्यवाद' का हर एक नमूना रूस के इतिहास में देखा जा सकता है। दूसरों के इतिवृत्त से रूसी इतिवृत्त न अच्छा है, न बुरा है। वोल्गा घाटी में रूसी विस्तार स्पेन के पुनर्विजय ('रिकान्क्किस्टा') सरीखा है; उक्रइन का विलय फ्रांस द्वारा बरगण्डी तथा लौरेन के विलय सरीखा है; साइबेरिया का औपनिवेशीकरण, उत्तरी अमरीका के औपनिवेशीकरण सरीखा है; काकेशस का आधिपत्य अंग्रेजों द्वारा स्कॉटलैंड की

उच्च भूमियों पर आधिपत्य सरीखा है; मध्यएशिया का हड़पना ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्य रचना के समान है; सुदूरपूर्व में रूसी साम्राज्यवाद यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा चीन पर किये गये आक्रमणों के सदृश है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रूसी-जापानी युद्ध में एंग्लो-बोअर युद्ध के समान ही यह विशेषता है कि आर्थिक उद्देश्यों के लिये इतिहास में लड़े गये किसी भी अन्य युद्ध की अपेक्षा यह मार्क्सवादी नमूने के साम्राज्यवादी युद्ध के कहीं अधिक निकट का युद्ध है।

रूसका इतिहास भी उतना ही साम्राज्यवादी है जितना दूसरे किसी भी बड़े राष्ट्र का है। तथापि उन्नीसवीं सदी के मध्य के स्लाव जाति के मित्रों से लेकर युद्ध-पश्चात् के सोवियत इतिहास लेखकों तक सभी इतिहास लेखकों ने बार-बार यह निरूपित किया है कि रूसी वे लोग हैं जो एक प्रकार से आक्रमण कर ही नहीं कर सकते और यह कि गैर-रूसी लोग किसी तरह 'स्वेच्छा से ही रूस में आ मिले हैं।' एक और यह धारणा भी व्यापक रूप से, विशेषकर एशियाई तथा अफ्रीकी राष्ट्रवादियों में प्रबल रूप से, प्रचलित है कि सभी रूसी विजयों के स्थल तक रहे आने के कारण, समुद्र पर न जाने के कारण, वे विजयें यूरोपीय अन्धमहासागरी देशों द्वारा की गई विजयों की अपेक्षा 'कम साम्राज्यवादी' थीं।

* * *

रूसी साम्राज्य की सरकार का आधार एकतन्त्री शासन का सिद्धान्त रहा। समस्त रूसी प्रजा को ज़ार के प्रति निष्ठावान् रहना पड़ता था और ज़ार केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी था। प्रजाजन बोली के आधार पर रूसी हैं अथवा धर्म के आधार पर रूसी हैं—इस बात की परवाह किये बिना यदि वे निष्ठापूर्वक ज़ार की आज्ञा का पालन करते हैं तो उन्हें उसका संरक्षण मिल जाता था।

साम्राज्य का शासन अत्यन्त केन्द्रीकृत था; और सारी उन्नीसवीं शताब्दीभर इसको और भी अधिक एकरूप बनाने की प्रवृत्ति रही। शताब्दी के आरंभ में बाल्टिक प्रांतों का शासन उनके परम्परागत जर्मन कानूनों के अनुसार चलता था, उक्रइन में कई पोल कानून लागू थे, और क्रीमिया के तातारों, तुर्कों अथवा काकेशस के लोगों से हाल ही में विजित प्रदेशों में ऐसे नये प्रशासनों की रचना करनी पड़ी थी जिनमें स्थानीय प्रथाओं और रूसी आवश्यकताओं का परस्पर सन्तुलन कर दिया गया था। मध्य एशिया में शताब्दी

के उत्तरार्ध में मुस्लिम परम्परागत कानूनों और प्रथाओं को अधिकतर चालू रहने दिया गया था। तथापि सेंटपीटर्सबर्ग में यह विश्वास निश्चित रूप से प्रबल होता जा रहा था कि प्रत्येक बात एक सार्वभौम आदर्श की समर्थक होनी चाहिये। यह बात नहीं भूल जानी चाहिये कि अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदियों में यूरोप में केन्द्रीकृत शासनवाद को प्रगतिशीलता का प्रतीक माना जाता था। यह आचरण न केवल सैन्यवादी प्रशिया तथा निरपेक्ष सत्तावादी आस्ट्रिया का ही चला आया था अपितु क्रांतिकारी फ्रांस का भी यही आचरण रहा आया था। क्षेत्रीय स्वराज्यों अथवा 'विशिष्टतावाद' को प्रतिक्रियावादी समझा जाता था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण फ्रांसीसी क्रांति के युग में वेंडी था। इस प्रकार न केवल एकतंत्र शासक तथा अधिकारतंत्री (नौकरशाही) ही अपितु उदार तथा समाजवादी तक भी, रूस में तथा यूरोप में भी, स्थानीय प्रथाओं तथा स्वायत्तशासन के दावों को सहन नहीं करते थे। परन्तु केन्द्रीय शासनवाद को विशालतर राष्ट्रों के हित में लघुतर देशों के हितों के विरुद्ध प्रयुक्त नहीं समझा जाता था; अपितु इसे सबके लिये श्रेष्ठतर शासन की एक गारंटी समझा जाता था।

रूस में चिन्ता का एक दूसरा विषय सीमाओं की सुरक्षा का था। लिथुआनिया के सीमावर्ती प्रदेशों में पोलों के विद्रोही होने की सम्भावना बनी रहती थी और रूसियों अथवा जर्मनों तक को भी अधिकारी नियुक्त किया जाना और भूमि का स्वामित्व देना अधिक अच्छा समझा जाता था। उत्तरी काकेशस में रूसी कज़्ज़ाकों को छापामार कबीलों के विरुद्ध अवरोधक दीवार के रूप में तेरेक नदी के किनारे की भूमि दे दी गई थी। ट्रांस्काकेशिया में सब मिलाकर मुस्लिम अज़ेरी तुर्कों से इसाई अर्मेनियनों को विशेषता प्राप्त थी। बाल्टिक जर्मनों को अपनी राजभक्त प्रजाजनों में गिनने वाली रूसी सरकार शताब्दि का अन्त होते-होते उनका अविश्वास करने लगी थी; और ऐसी कोशिशों में लग गई थी कि जिनसे इन समुद्री प्रांतों में जर्मन-प्रभाव कम हो जाय; इन समुद्री इलाकों का महत्त्व उदीयमान जर्मन साम्राज्य से लड़ाई छिड़ जाने की अवस्था में तो प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहा था।

* * *

रूसी ज़ार अपने सब प्रजाजनों का सम्राट् तो था ही, वह 'ऑर्थोडॉक्स चर्च, (पूर्वी इसाई सम्प्रदाय) का (धर्म) रक्षक भी था। उसके प्रजाजनों में वे लोग जो ऑर्थोडॉक्स (पूर्वी ईसाई) थे, "औरों की अपेक्षा अधिक समकक्ष अथवा

हमजोली" [illegible] कज़ान तथा अस्त्राखान के इवान "विकट" से हार जाने के बाद ऑर्थोडॉक्स चर्च ने वोल्गा घाटी के तातारों की शुद्धि (धर्म परिवर्तन) तथा उन पर अत्याचार करना शुरू कर दिया । इसको साम्राज्ञी कैथेराइन द्वितीय ने अठारहवीं सदी के पिछले भाग में बन्द किया और १७८८ में एक 'मुस्लिम धार्मिक प्रबन्ध' की स्थापना एक मुफ्ती की अध्यक्षता में की; यह मुफ्ती (पहले) ओरेनबर्ग में, तथा, पिछले दिनों उफा में रहा करता था। परन्तु उन्नीसवीं सदी में भी ऑर्थोडॉक्स पादरी मुसलमानों को अपने धर्म में लाने की चेष्टा करते थे, जबकि ऑर्थोडॉक्स इसाइयों का धर्मपरिवर्तन कानून द्वारा निषिद्ध ठहराया हुआ था। ऑर्थोडॉक्स (इसाइयों) तथा मुसलमानों में वोल्गा के किनारे अथवा इसके पूर्व में रहने वाले (उदमूर्तों, चेरेमिस, चुवाश आदि) अभी तक काफ़िर (मूर्तिपूजक) बने आये लोगों की शुद्धि को लेकर आपसी होड़ भी चल रही थी । दोनों धर्मों के प्रचारकों के बीच मचा हुआ संघर्ष राष्ट्रीय संस्कृतियों तथा भाषाओं का भी संघर्ष था। एक पक्ष इन लोगों को न केवल इसाई ही बनाना चाहता था अपितु वह उन्हें रूसी भी बनाना चाहता था; दूसरा पक्ष उन्हें न केवल मुसलमान ही अपितु तातार भी बनाना चाहता था। इस प्रकार न केवल रूसी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की ही बात करना सम्भव है अपितु रूसी सामाज्य के अन्तर्गत तातार सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की भी बात का किया जाना सम्भव है।

रूसी ऑर्थोडॉक्स चर्च केवल इस्लाम के विरुद्ध ही नहीं, अपितु दूसरे ईसाई सम्प्रदायों के भी विरुद्ध सक्रिय था। मुख्य शत्रु लिथुआनिया के सीमाप्रदेशों में पोलों द्वारा स्वीकृत कैथोलिक मत था । ऑर्थोडॉक्स चर्च पोलों के विरुद्ध ठानी हुई अपनी लड़ाई में राज्य पदाधिकारियों का प्रयोग करता था और राज्यपदाधिकारी इसका प्रयोग करते थे । लिथुआनिया में १८३९ में तथा उक्रइन के खोलम जिले में १८७५ में उनियात चर्च को निषिद्ध कर दिया गया; इसके सदस्यों को ऑर्थोडॉक्स चर्च में पुनः लेलिया गया । १८४० से आरम्भ होने वाले दशक में बाल्टिक प्रांतों के कई हजार लातवियाइयों तथा एस्तोनियाइयों को प्रोटेस्ट से ऑर्थोडॉक्स इसाई बनाया गया और १८८० से आरम्भ होने वाले दशक में धर्मपरिवर्तन के नये अभियान का यत्न किया गया पर इसबार सफलता कम मिली। रूसी ऑर्थोडॉक्स पुरोहितशाही ने जार्जिया के पृथक् ऑर्थोडॉक्स चर्च को अपने नियन्त्रण में लेने के लिये एड़ी से चोटी तक का जोर लगाया और धर्मनिरपेक्ष अधिकारियों को आर्मीनिया के जार्जियाई

चर्च की भीतरी व्यवस्था में हस्तक्षेप करने के लिए उकसाया । यह ध्यान रहे कि पीटर महान् ने जब 'चीफ प्रोक्यूरेटर' (प्रमुख गुमाश्ता या दण्डाधिकारी) पद के एक सामान्य पदाधिकारी के निर्देशन में 'पवित्र सिनोद' (धर्मपरिषद्) की स्थापना की, तब से ही स्वयं ऑर्थोडॉक्स चर्च पर धर्मनिरपेक्ष पुरोहितशाही का कठोर नियंत्रण चला आया था । इस प्रकार चर्च और राज्य की नीतियों में भेद करना कठिन है। यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी के पहले तीन सम्राटों का रुख चर्च की धर्मपरिवर्तन की कार्यवाही को उकसाने का नहीं, सीमित करने का रहा (पोलों के विरुद्ध इसकी कार्यवाही अपवाद थी) । तथापि अन्तिम दो सम्राटों—अलेक्सान्द्र तृतीय (१८८१-१८९४) तथा निकोलाई द्वितीय (१८९४-१९१७) ने अपने आपको चर्च की असहिष्णु नीति का अभिन्न अंग समझ रखा था ।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक रूसी साम्राज्य अत्यधिक कृषि-देश बना रहा । इस प्रकार रूसियों तथा गैर-रूसियों दोनों का धन्धा कृषि था । मस्कोवी रजवाड़े की मूल भूमियों पर मौसम अथवा मिट्टी की बहुत कृपा नहीं थी । तथापि जंगलों से इमारती लड़की और फर मिल जाते थे जिनका सफलतापूर्वक निर्यात, विशेषकर इंग्लैंड को, कर दिया जाता था । उत्तरी तथा मध्य रूस की बहुमूल्य निर्यात-फसलें पटसन तथा फ्लैक्स थीं । केवल तब ही, जब कि, मस्कोवी का पूर्व तथा दक्षिण में वोल्गा, क्रीमिया और उक्रइन तक विस्तार हो गया, अत्यधिक सम्पन्न अन्न-उत्पादक जमीनें इसके हाथ लगीं । तथापि यह सुझाव देना अन्याय होगा कि रूसियों ने तातारों और कज्जाकों से उनका अनाज छीना । सचाई यह है कि जब तक रूसी शासन इन देशों में दृढ़ता से स्थापित नहीं हो गया तब तक यहाँ अन्न नाममात्र का ही उत्पन्न होता था । दक्षिणी रूस खानाबदोशों (घुमक्कड़ों) और लुण्ठकों का घर था, इसमें स्थायीरूप से बसे हुए किसान इने-गिने ही थे । केवल उन्नीसवीं सदी में ही प्रसिद्ध काली मिट्टी ने अपनी बहुमूल्य फसलें दीं, साथ ही रेलपथों के निर्माण ने उनका कृष्णसागरीय बन्दरगाहों से यूरोप के बाजारों तक ढोकर ले जाना सम्भव कर दिया । इसका श्रेय रूस की सरकारों और शासकवर्ग को मिलना आवश्यक है । तथापि यह तो तथ्य ही रहेगा कि रूस की अन्न की उपज का बहुत बड़ा भाग उन जमीनों से आया जिनकी बहुसंख्यक आबादी रूसी नहीं, उक्रइनी अथवा तातारी थी । दूसरी महत्वपूर्ण फसल—चुकन्दर—की फसल, जिस पर साम्राज्य का चीनी उद्योग सदी के अन्त में निर्भर था, मुख्यतया कीएव के पश्चिमी क्षेत्र में, रूसी नहीं,

उक्रइनी किसान, उगाते थे। बीसवीं सदी के आरम्भ में साम्राज्य कपास का पर्याप्त उत्पादक बन गया; यह इसकी मध्यएशिया की नवविजित, अधिकृत भूमियों में उपजाई जाती थी। तुर्केस्तान के किसानों को कपास पर अपना ध्यान देने के लिये दिये गए जाना-बूझे प्रोत्साहन की तुलना अंग्रेज अधिकारियों द्वारा मिश्र के किसानों को दिये गये प्रोत्साहन से की जा सकती है। उद्देश्य एक ही था—अपनी मातृभूमि को उसके वस्त्र उद्योग के लिए कच्चे माल का प्रचुर एवं असन्दिग्ध पर्यर्पण। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व मास्को क्षेत्र को अपनी कच्ची रुई का आधे से अधिक भाग मध्य एशिया से मिलता था।

साम्राज्य को खनिज सम्पत्ति भी अधिकतर गैर-रूसी आबादी के क्षेत्रों से प्राप्त होती थी। (तातारों अथवा क्षुद्र आदिवासियों द्वारा आबाद) उराल पर्वत-प्रदेशों की लोहे की खानों को अठारहवीं सदी में उन्नत किया गया, जब कि रूस लोहे के प्रमुख निर्यातकों में गिना जाने लगा। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उराल-खानें, संचार-साधनों के पर्याप्त न होने के कारण तथा श्रमिकों की उचित व्यवस्था न होने के कारण शीघ्र ही रूसी पोलैंड तथा उक्रइन की खानों से पीछे पड़ गईं जब कि पूर्वी उक्रइन (दोनेत्स बेसिन) कोयले का प्रमुख स्रोत बन गया। सदी के अन्त में कैस्पियनसागर के बाकू प्रायद्वीप पर पेट्रोल का बड़ी मात्रा में दोहन शुरू हुआ—(यहाँ की आबादी अज़ेरी तुर्कों की थी जिसमें अल्पसंख्यक अर्मीनियाई भी पर्याप्त संख्या में थे)।

इस प्रकार हमने देखा कि साम्राज्य को कृषिज और खनिज दोनों प्रकार की सम्पत्ति मुख्यतया गैर-रूसी क्षेत्रों से उपलब्ध होती थी। परन्तु सदी के अन्त में उदय हुआ कारखाना-उद्योग मुख्यतया रूसी आबादी के क्षेत्रों में पाया जाताथा—विशेषकर सेंटपीटर्सबर्ग में, मास्को में तथा मध्य रूस में। इस प्रकार रूसी साम्राज्य के साथ भी राजधानीय उद्योग तथा औपनिवेशिक कच्चे माल का सुपरिचित नमूना दूसरे साम्राज्यों से कम मात्रा में लागू न था। यह बात तो, निस्सन्देह, सत्य है कि रूस की आर्थिक उन्नति से साम्राज्य के सभी प्रजाजनों को, भले ही वे रूसी थे या नहीं, भौतिक लाभ पहुँचा। बढ़ते हुए रेलपथों का ताना-बाना, अपेक्षया अधिक कार्यक्षम आधुनिक शासन व्यवस्था की समरूप पद्धति, एक मुद्रा और सीमाशुल्कक्षेत्र—ये सभी बड़े लाभदायक सिद्ध हुए। परन्तु ये बातें दूसरे साम्राज्यों में भी विद्यमान हो सकतीं थी।

* * *

उन्नीसवीं सदी में रूसी साम्राज्य में शिक्षा की प्रगति मन्द रही। निम्न

स्तरों की अपेक्षा उच्च स्तरों पर पद्धति बहुत अधिक अच्छी थी। १६०० में रूसी विश्वविद्यालय दूसरे यूरोपीय देशों के विश्वविद्यालयों जितने ही अच्छे थे। परन्तु प्रारम्भिक शिक्षा में बहुत-सी त्रुटियाँ थीं। अलेक्सान्द्र प्रथम का, जिसने १८०२ में शिक्षा मन्त्रालय की स्थापना की थी, इरादा यह था कि सार्वजनिक धन तथा प्रशिक्षित शिक्षक उपलब्ध होते ही अपने योग्य प्रमाणित हुए प्रजाजनों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दे। परन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने इस नीति को जान बूझकर छोड़ दिया और इसके स्थान पर शिक्षा को उच्च वर्ग के लिये सीमित रखने की नीति अपनाई। १८३२ से १८४६ तक शिक्षा-मन्त्री के पद पर आसीन काउन्ट एस. एस. उवारोव ने अनुभव किया कि शिक्षा ऐसी भयानक वस्तु है जो क्षुद्र जनों के मस्तिष्कों में हानिकारक विचारों का प्रवेश कर सकती है और सबसे बढ़िया नीति यही है कि इसको थोड़े-से चुने हुए व्यक्तियों तक सीमित रखा जाय। सदी की समाप्ति के पश्चात् भी यही नीति चालू रखी गई। १८८२ से १८६८ तक शिक्षामन्त्री पदासीन काउन्ट आई. डी. देल्यानोव ने इतने बाद तक कि १८८७ तक में अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को निर्देश दिया कि 'तांगेवालों, रसोइयों, धोबियों और इसी प्रकार के लोगों के बच्चों को उनकी हैसियत से अधिक शिक्षा न लेने दी जाय।'

इस सामान्य प्रतिगामी प्रवृत्ति के रहते यह सम्भव नहीं था कि गैर-रूसी लोग सुस्थित होते। अलेक्सान्द्र प्रथम ने विल्नो तथा दोर्प्त में इस निर्देश के साथ विश्वविद्यालय खोलने की अनुमति दी कि इन में शिक्षा की माध्यम क्रमशः पोल तथा जर्मन भाषाएँ हों। १८३०-३१ के पोल युद्ध के पश्चात् विल्नो विश्वविद्यालय बन्द कर दिया गया, लिथुआनिया के स्कूलों से पोल-प्रभाव को सर्वथा दूर कर दिया गया और पोलैंड के पहले वाले राज्य तक में शिक्षा के रूसीकरण में लगातार वृद्धि की गई। बाल्टिक प्रान्तों में के जर्मन स्कूलों पर १८८० से आरम्भ होने वाले दशक के पिछले भाग में धावा किया गया। १८६३ में दोर्प्त विश्वविद्यालय बन्द कर दिया गया, इसको बाद में रूसी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने का ध्येय रखकर दूसरे नाम से पुनः खोला गया। मुस्लिम क्षेत्रों में स्थिति कुछ बातों में अधिक अच्छी थी। यह सच है कि वे गरीब थे और कि सरकार शिक्षा पर नाम मात्र का ही व्यय करती थी; परन्तु यहाँ गैर सरकारी व्यक्तियों को स्कूल स्थापित करने की अनुमति पश्चिम के गैर-रूसी प्रान्तों की अपेक्षा अधिक सरलता से दे दी जाती थी। प्रमुख केन्द्र कज़ान था। मध्य वोल्गा के तातारों में धनी, देशभक्त और सुसंस्कृत व्यक्तियों

की संख्या अन्य सभी रूसी मुसलमानों की अपेक्षा अनुपात में कहीं अधिक विद्यमान थी। तातार व्यापारियों ने रूसी पताका के संरक्षण में, मध्य एशिया से व्यापार करके अति विशाल सम्पत्ति न सही तो, पर्याप्त सम्पत्ति तो जोड़ ही ली थी। इन्होंने अपने धन का अधिकांश आधुनिक स्कूलों की स्थापना में लगा दिया। अब तक मुसलमान केवल परम्पराप्राप्त कुरानी स्कूलों में ही जा पाते थे; इनमें उन्हें मुसलिम संस्कृति की आधारभूत शिक्षा तो मिल जाती थी परन्तु वे स्कूल इन्हें आधुनिक संसार की आवश्यकताओं के लिये किसी भी प्रकार तैयार नहीं कर पाते थे। नये स्कूलों ने मानवोचित संवेदनामय एवं वैज्ञानिक दोनों प्रकार की धर्मनिरपेक्ष शिक्षा पर बल दिया। सबसे अधिक प्रमुख अग्रणी एक क्रीमियाई तातार इस्माइल बे गास्पिराली (अथवा गस्पिरिंस्की) था जिसने १८८४ में क्रीमियास्थित बखचेसराय स्थान में एक आदर्श स्कूल की स्थापना की थी। इसकी नकल विशेषकर वोल्गा क्षेत्र में की गई। ऐसे स्कूल 'नई पद्धति' (उसूल जदीद-नये सिद्धान्त) के स्कूल के नाम से प्रसिद्ध हुए और तातारी जनवादी सुधारकों का एक सामान्य नाम 'जदीद' (नवीन) प्रसिद्ध हो गया। १९१४ तक रूसी मुसलमानों में इस ढंग के ५००० स्कूल हो गये। आजरवैजान तथा तुर्केस्तान में और बुखारा तथा खीवा के संरक्षित राज्यों तक में भी इस आन्दोलन को कुछ समर्थन मिला परन्तु समष्टि रूप से मध्य एशिया भर में लोगों का पिछड़ापन तथा संकुचित इस्लामी रूढ़िवादिता भयङ्कर बाधाएँ बनी रहीं। सामान्यतया यह कहना पड़ेगा कि यद्यपि रूसी सरकार ने आन्दोलन को न तो उत्साहित ही किया अथवा न इसकी सहायता ही की और वस्तुतः इसको पसन्द भी नहीं किया परन्तु इसमें कोई वास्तविक बाधा भी नहीं डाली।

* * *

रूसी साम्राज्य की सामाजिक नीतियाँ परम रूढ़िवादी थीं। समष्टिरूप से रूस की स्थिति यह थी कि सरकार बड़े भू-स्वामियों तथा व्यापारियों—रूसियों तथा विदेशियों (फ्रांसीसियों, जर्मनी, अंग्रेजों व दूसरों)-दोनों—के हितों का समर्थन करती थी। किसान तथा मज़दूर, भले ही वे रूसी थे या नहीं, ग़रीब रहे। तथापि जार और सरकार के हितों को (अधिकारियों के किये अर्थों में) उच्च वर्गों के हितों की अपेक्षा प्राथमिकता मिलती थी और जहाँ कहीं इनमें विरोध होता था वहां कभी-कभी जनता को लाभ पहुँच जाता था। यहाँ दो घटनाएँ वर्णन करने योग्य हैं। १८६३ के विद्रोह के पश्चात् पोलैण्ड में भूमिका वितरण

किया गया जिसके परिणाम दूरगामी रहे । रूसी सरकार की यह मान्यता ठीक थी कि रूस के विरुद्ध किये गये पोल-राष्ट्रीय-ग्रान्दोलन के नेता भू-स्वामी वर्ग के थे । इससे सरकार ने यह परिणाम निकाला कि इस वर्ग को निर्बल किया जाना चाहिये ग्रौर यह कि यदि किसानों को भूमि दे दी जायगी तो सम्भव है वे ग्रपनी पूर्ववर्ती भूमिस्वामियों की ग्रपेक्षा ज़ार के ग्रधिक राजभक्त प्रजाजन सिद्ध हों । न केवल लिथुग्रानियाई सीमा प्रान्तों में पोल भूस्वामियों के श्वेतरूसी तथा उक्रइनी ग्रसामियों को ही ग्रपितु पोल प्रान्तों के पोल ग्रसामियों को भी भूमि पर्याप्त मात्रा में मिली; यह भूमि उसी समय मध्य रूस में रूसी किसानों को जिन ग्रार्थिक शर्त्तों पर दी गई उनसे बहुत ही ग्रधिक ग्रनुकूल ग्रार्थिक शर्त्तों पर दी गई । इस सुधार ने, वस्तुत, पोल किसानों को पोल-दृष्टिकोण से कम देशभक्त ग्रौर रूसी ज़ार का ग्रधिक भक्त तो नहीं बनाया परन्तु इससे उनकी भौतिक दशा सुधर गई । कुछ वर्षों पश्चात् तुर्केस्तान में जनरल वॉन काफ़मैन ने इन्हीं कारणों से ऐसी ही कार्रवाई की । ग्राशा तो यह थी कि उज़्बेक तथा ताज़िक ग्रराजनैतिक किसान रूसी शासकों के कृतज्ञ होंगे ग्रौर साथ ही क्रांति के सम्भाव्य नेता उच्चवर्गीय निर्बल हो जायेंगे । वॉन कॉफ़मैन १८६३ के बाद पोलैंड में काम कर चुका था ग्रौर पोल-सुधारों को ग्रपना ग्रादर्श बना चुका था । इन दो घटनाग्रों के विपरीत १८६० से ग्रारम्भ होने वाली दशाब्दी में जार्जिया में भूदासों की मुक्ति के साथ किया गया भूमि-सुधार किसानों के परम प्रतिकूल ग्रौर भूस्वामियों के लिए लाभप्रद रहा ।

शाही रूस में ग्रौद्योगिक श्रमिकों के लाभ के लिये जो कानून जारी किया गया वह जितना रूसियों पर लागू था उतना ही गैर-रूसियों पर भी लागू था । साम्राज्य का श्रमिक वर्ग ग्रधिक संख्या में रूसी था परन्तु बाकू में ग्रर्मीनियाई तथा ग्रजेरी, तिफ़लिस में जार्जियाई, उराल-पर्वत-प्रान्तों में तातार, रीगा में जर्मन तथा लातवियाई ग्रौर पश्चिमी प्रान्तों में पोल श्रमिक भी थे । ये लोग १६०५-१६०६ की हड़तालों तथा क्रांतिकारी कार्रवाइयों में फँसे हुए थे । १६०६ में ट्रेड-युनियनों को वैधानिक मान लिया परन्तु उनको बहुत कम ग्रधिकार दिये गये ग्रौर हड़तालें तो १६१७ तक ग्रवैधानिक बनी रहीं ।

* * *

निरंकुश शासन, केन्द्रीकृत शासन वाद, सीमा प्रान्तों की सुरक्षा में लवलीनता, धार्मिक ग्रसहिष्णुता, ग्रार्थिक शोषण ग्रौर प्रतिगामी सांस्कृतिक तथा सामाजिक नीतियाँ —ये वे घटक थे जो गैर-रूसियों के हितों के प्रतिकूल रहे ।

परन्तु सरकार ने जानबूझ कर रूसीकरण करने की नीति को तो केवल उन्नीसवीं सदी के अन्त में अपनाना शुरू किया था। इससे पहले तो नीतियों का निर्धारण परमेश्वर के प्रति उतरदायी सम्राट् के नाम पर किया गया था। रूसीकरण की नीति वह नीति थी जिसका निर्धारण रूसी राष्ट्र के नाम पर किया गया था। इस नीति के अनुसार यह मान लिया गया था कि ज़ार की शेष प्रजाओं से रूसी प्रवर हैं और ज़ार इसके लिये बाधित है कि वह रूसियों को औरों से श्रेष्ठ समझे। एक तरह से तो यह एक जनतन्त्री नीति थी; इसका कारण यह है कि यह किसी शासक को नहीं अपितु राष्ट्रको अच्छी लगती थी। निरंकुश सत्तावादी ज़ार निकोलाई प्रथम ने सदी के प्रथमार्ध में इसे योंही अस्वीकार नहीं कर दिया था। रूसीकरण की प्रेरक शक्ति थी रूसी नौकरशाही; नौकरशाही के सदस्यों की संख्या और उसके अधिकारों में वृद्धि दो प्रमुख प्रक्रियाओं के कारण हो गई थी—एक प्रक्रिया तो थी रूस का औद्योगीकरण और दूसरी प्रक्रिया थी सरकारी मशीनरी में अभिजात वर्ग की उस सन्तान का समागम जिसको कि देहात में भूस्वामियों के रूप में अब कोई स्थान नहीं रहा था। औद्योगीकरण ने सरकारी मैशीनरी की जटिलता और अधिकारी कर्मचारियों की माँग में वृद्धि कर दी। अभिजात वर्ग से आये रंगरूट अपने साथ संकीर्ण देशभक्तिक तथा सैनिक दृष्टिकोण को लेकर आये; यह दृष्टिकोण उस युग के पश्चिमी यूरोपीय देशों के असैनिक (सिविल) कर्मचारियों की खास 'बुर्जुआ-प्रकृति' से सर्वथा भिन्न था। रूसीकरण का उद्देश्य सभी रूसी प्रजाओं को एक सर्वमान्य श्रेणी का बना देना था। बाल्टिक जर्मनों-सरीखे जिन राष्ट्रों (जातियों) ने अपने आप को सर्वथा ज़ार का भक्त प्रमाणित कर दिया था उन पर अब रूसी भाषा, धर्म और जीवनचर्या अपना लेने का दबाव डाला गया। फिनलैंड की पृथक् स्थिति भंग कर दी गई। ज़ार-ग्रांड-ड्यूक ने जब तक फिन्नियों की स्वायत्तता का आदर किया तब तक तो वे पूरी तरह राजभक्त बने रहे। १८९८ से उनकी स्वायत्तता की कतर-ब्योंत कर दी जाती रही और वे रूस के निर्मम शत्रु बन गये। उक्रइनी तथा तातारों के विरुद्ध विशेष सक्रियता से रूसीकरण का प्रयोग किया गया परन्तु इसाई जार्जियाइयों तथा अर्मीनियाइयों दोनों को और तुर्केस्तान के मुसलमानों को तो यही कहना चाहिये कि कुल मिलाकर बचा दिया गया। १९०५ की क्रांति के पश्चात्, सभी गैर रूसियों ने कुछ समय तक कुछ अधिक आज़ादी अनुभव की परन्तु १९०७ के पश्चात् रूसीकरण एक बार फिर से आरम्भ हो गया। वस्तुतः यह

कहा जा सकता है कि १९१४ के पूर्ववर्ती अन्तिम वर्षों में रूसीकरण उन राजनीतिक तथा सामाजिक शक्तियों को एकीभूत करने वाली विचारधारा बना हुआ था जिन पर कि आधी-निरंकुश तथा आधी-वैधानिक, १९०६ से १९११ तक के प्रधानमंत्री पी. ए. स्तोलीपिन के नाम से संयुक्त नई व्यवस्था आधारित थी।

मनुष्यों के प्रति अनुत्तरदायी-ईश्वरादिष्ट-स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर वह राष्ट्रीय एकतन्त्र शासन स्थापित हो गया था जो इस अर्थ में अधिक जनतन्त्री था कि इसको उस रूसी राष्ट्रीयता का सामूहिक समर्थन प्राप्त था जिसका लक्ष्य साम्राज्य के भीतर रहने वाले गैर रूसियों तथा विदेशी राष्ट्रों—दोनों—का विरोध करना था। इस बात में भी १८९० से १९१४ तक के यूरोपीय राज्यों के जनता-समर्थित साम्राज्यवाद के साथ इसकी समानता विद्यमान है। न तो रूसी इतिहासकारों ने ही अथवा न विदेशी इतिहास लेखकों ने ही इस बात को पर्याप्त रूप से मान्यता दी है कि यह कोई वस्तुतः लोकप्रिय नीति थी और यह कि रूसी उत्कट देशप्रेम रूसी क्रान्तिकारी समाजवाद की अपेक्षा नागरिकों की भीड़ को युद्धार्थ जुटाने में कुछ कम समर्थ नहीं था।

वे अवसर जबकि यह सामूहिक उत्कट देशप्रेम सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रदर्शित किया जाता था, उक्रइन, श्वेतरूस, लिथुआनिया, बेसाराबिया और पोलैंड के नगरों में यहूदियों की लूट-खसोट (पोग्रोम-विध्वंस, सामूहिक हत्यायें आदि) के अवसर होते थे। यहूदी दुकानों को नष्ट करने वाली तथा यहूदियों को पीटने अथवा मार डालने वाली, मजदूरों-कारीगरों-किसानों तथा निम्न मध्यम वर्ग के लोगों की इन भीड़ों में रूसी इतने नहीं होते थे जितने कि उक्रइनी, पोल, श्वेतरूसी, लिथुआनियाई और रूमानियाई होते थे। शेमी-विरोधी (अरब-यहूदी आदि विरोधी) सिद्धान्त को 'नामर्दों का समाजवाद' कहा गया है जिसका अर्थ यह हुआ कि पूंजीपति-विरोधी भावना को यहूदी पूंजीपतियों के विरुद्ध मोड़ दिया गया है और सामाजिक क्रांति की आकांक्षा को विकृत कर यहूदियों के साथ दुर्व्यवहार अथवा उनका विध्वंस बना दिया गया है। परन्तु रूसी साम्राज्य में शेमी-विरोधीवाद 'निर्बलों का राष्ट्रीयतावाद' भी इस अर्थ में था कि यह आधीनस्थ राष्ट्र जातियों की राष्ट्रीय भावना के प्रभुताशाली रूसी राष्ट्रजाति और इसकी सरकार से दूर हटा कर बलि के बकरे बने यहूदियों के पीछे लगा देता था। रूसी पुलिस-अधिकारी तो निश्चय ही इसको ऐसा समझते थे; वे 'विध्वंसों ('पोग्रोमों) को जान बूझकर प्रोत्साहित करते थे। बहु-जातीय नगर बाकू में दंगों को भड़काने की घटना भी इस

जैसी ही घटना है। यहाँ के अर्मीनियाइयों में भी दूसरे स्थानों के यहूदियों के कुछ गुण—पूंजीपति के रूप में उनकी उच्च बौद्धिक योग्यताएँ—थे। वे उन अधिक गरीब तथा अधिक समभ्य अजेरी तुर्कों की ईर्ष्या के नैसर्गिक लक्ष्य बने हुए थे जो शीघ्रता से बढ़ रहे इसी नगर के अदक्ष, अनियमित रूप से नौकरी पर लगे गरीब शहरी थे। शाही रूसी शासन के अन्तिम वर्षों में ट्रान्सकाकेशिया में अजेरियों द्वारा अर्मीनियाइयों के सामहिक जनसंहार की तथा अर्मीनियाइयों द्वारा अजेरियों की प्रतिहिंसा की घटनाएँ प्रायः होती ही रहती थीं और ये निश्चय ही अधिकारियों को अप्रिय नहीं लगीं।

* * *

शाही रूस में १९०५ के बाद तक भी राजनीतिक दल बनाने की अनुमति नहीं थी और सरकारी नीतियों की सीधी राजनीतिक आलोचना को सार्वजनिक रूप से व्यवत नहीं किया जा सकता था। तो भी रूसियों और गैर-रूसियों—दोनों—ही में राजनीतिक विचार फैले और राजनीतिक गुट्ट भी बनाये गये। गैर-रूसियों में सामाजिक कारण की अपेक्षा राष्ट्रीयकरण का प्रभाव अधिक प्रतीत होता था; यद्यपि सदा यह बात नहीं होती थी। तथापि साधारणतया तो, सभी राष्ट्रीय आंदोलनों का लक्ष्य राजनीतिक जनतन्त्र और पर्याप्त सामाजिक सुधार भी होता था। कई इससे आगे बढ़ गये थे और वे किसी भी रूप में हो 'समाजवाद' की वकालत करते थे। राष्ट्रीय लक्ष्य अधिकतर तो रूसी साम्राज्य के भीतर स्व-शासन का निर्माण करना था, पृथक राज्य के निर्माण अथवा किसी पड़ौसी राज्य में मिल जाना नहीं।

* * *

अधिक संख्यक पोलों का अन्तिम लक्ष्य एक स्वतन्त्र एकीभूत (संयुक्त) पोलैंड था। परन्तु दूसरे सर्वोत्तम विकल्प के रूप में वे रूसी साम्राज्य के भीतर रूसी पोलैंड के लिये स्वशासनाधिकार को भी इस आशा में खुशी से स्वीकार कर लेते कि यह स्वायत्त पोलैंड कभी आगे चल कर रूसी सहायता से पोलैंड के उन भागों को भी प्राप्त कर लेगा जो जर्मन तथा आस्ट्रियाई साम्राज्य के बने हुए थे। तथापि १८१५ के राज्य का पुनः स्थापन उन्हें सन्तुष्ट नहीं करता। उनको और अधिक जनतन्त्री शासन व्यवस्था चाहिए थी और वे पोलैंड में कम से कम लिथुआनियाई सीमा प्रदेशों के एक बड़े भाग को मिलाना चाहते थे और यदि सम्भव हो तो 'प्रथम-विभाजन' से पूर्व की १७७२ की सीमा तक फैलना चाहते थे। ऐसे विचारक भी थे जो रूस को पोलैंड का

मुख्य शत्रु समझते थे और रूस के विरुद्ध आस्ट्रिया का और जर्मनी तक का साथ देना पसन्द करते थे। तीसरा दृष्टिकोण पोल सामाजिक आन्दोलन के वामपक्ष का दृष्टिकोण था; यह पक्ष सामाजिक क्रांति की अपेक्षा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को कम महत्व देता था। चरम वामपक्षी नेता रोजा लक्षमवर्ग ने तो यह भी कह दिया था कि पोलैंड की स्वाधीनता तो निश्चित रूप से अभीष्ट नहीं है और पोलैंड के मजदूरों की सर्वोत्तम हितसाधक बात यही है कि पोलैंड स्थायी रूप से तीन महान् साम्राज्यों और तीन आर्थिक इकाइयों—रूस, आस्ट्रिया, हंगरी तथा जर्मनी में विभक्त रहे।

* * *

शताब्दि के प्रारम्भ में शीघ्रता से बने हुए उक्रइनी राष्ट्रीय दल अधिकतर किसी-न-किसी रूप में समाजवाद के समर्थक थे। वे जनतन्त्री रूस में उक्रइन के लिए स्वायत्त शासन की आशा में थे और साथ ही उन्हें यह भी आशा थी कि आस्ट्रिया द्वारा शासित पूर्वी गैलीशिया उन्हें मिल जायगा। तथापि गैलीशिया में उक्रइनी राष्ट्रवादी अधिक हठधर्मी थे। उनका लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्र उक्रइन राज्य था। वे इस लक्ष्य की पूर्ति की आशा आस्ट्रिया तथा जर्मनी की सहायता से करते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि रूसी साम्राज्य के अंग-भंग हो जाने पर आस्ट्रिया को जो लाभ होगा उसके कारण आस्ट्रियाई सरकार पूर्वी गैलीशिया देने को तय्यार हो जायगी। रूसी उक्रइन में उनके इस उग्र राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बहुत ही कम समर्थन प्राप्त था।

वेसाराबिया के रूमानियाइयों में बहुत ही कम राजनीतिक सक्रियता थी। परन्तु वे जो राजनीतिक लक्ष्य रखते थे उनके अनुसार वे रूमानिया के विद्यमान राज्य में मिल जाना अधिक पसन्द करते अर्थात् १८१२ के रूसी स्वायत्तीकरण द्वारा भग्न ऐतिहासिक मोल्दाविया की एकता का पुनःस्थापन ही पसन्द करते।

* * *

बाल्टिक प्रांतों के ऐस्तोनियाई तथा लातवियाई शिक्षित वर्ग में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय भावना की जागृति उत्पन्न हो गई थी। इसके सबसे अधिक सक्रिय कर्ता प्रोटेस्टैंट पादरी तथा स्कूलों के अध्यापक थे। यह भावना पहले पहल जर्मन विरोध थी, कारण यह था कि उच्चवर्ग में जर्मन थे और अधिकार तथा धन दौलत उनके नियन्त्रण में थे। एस्तोनियाई तथा लातवियाई, एक सीमा तक रूस को जर्मन-शासन के विरुद्ध परित्राण-कर्त्ता तक

समझते थे। १८८० के दशक में बरती गई रूसीकरण की नीति के साथ-साथ यह रुख बदल गया। १९०५ में लातविया में खूनी हड़तालें तथा किसान-विद्रोह हुए। लातविया में, विशेषकर रीगा में, मार्क्सवादी समाजवाद प्रबल था; परन्तु एस्तोनिया में ऐसा नहीं था। इस समय दोनों में से किसी भी देश में राष्ट्रीय स्वतंत्रता को व्यावहारिक अथवा शायद अभीष्ट लक्ष्य तक भी नहीं समझा जाता था। सब मिलाकर बाल्टिक के जर्मन रूस के प्रति निष्ठावान् रहे परन्तु जैसे-जैसे रूसीकरण की प्रगति हुई, इस निष्ठा में कमी होती गई। तरुण तान्ती को किसी सीमा तक यह आशा लगी रही कि रूस के विरुद्ध जर्मन साम्राज्य के सफल युद्ध के पश्चात् उन्हें मुक्ति मिलेगी।

ट्रांसकाकेशिया में स्थिति यह थी कि जार्जिया में प्रबलतम राजनीतिक दल नरम मार्क्सवादी समाजवादियों का (मेन्शेविकोंका) था। जार्जियाई मेन्शेविक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के निश्चित विरोधी थे और उनकी राष्ट्रीय स्वायत्त प्रशासन में भी रुचि नहीं थी। उनका उद्देश्य एक अखिल-रूसी जनतन्त्री गणतन्त्र था। प्रबलतम अर्मीनियाई गुट्ट 'दशनाक्त्सुतियन' (क्रांतिकारी संघ) राष्ट्रवादी तथा समाजवादी दोनों था। परन्तु इस गुट्ट का नैसर्गिक लक्ष्य अर्मीनिया की तुर्कों से मुक्ति था जिसमें रूस की मदद की जरूरत थी। रूसी साम्राज्य के भीतर एक अधिक बड़ा अर्मीनियाई पितृदेश भी उन्हें स्वीकार्य हो जाता। अज़ेरी तुर्क साम्राज्य के मुसलमानों में होने वाले जनतन्त्री आधुनिकीकरण-आंदोलन के प्रभाव में थे। उनकी विशेष इच्छा यह थी कि रूस से उन्हें अलग न किया जाय। तुर्की साम्राज्य (इसके साथ इसकी सीमा मिलती नहीं थी) के तुर्कों की और इनकी बोली एक थी और इनका धर्म (इस्लाम की शिया शाखा) तथा ईरानियों का धर्म एक था। आधुनिकता के रंग में रंगे और राजनीतिक प्रवृत्ति वाले अजेरियों को न तो तुर्की साम्राज्य ही अच्छा लगा न काज़ार वंश वालों का ईरान ही आकर्षक प्रतीत हुआ। काकेशस पर्वतमाला के विविध लोगों को तो राजनीतिक विचारधारा शायद ही कभी छूई होगी। वे राष्ट्रवादी नहीं थे; मुसलमान थे। प्रसुप्त रूप में विद्यमान रूसोन्मुख शत्रुता का आधार राष्ट्रीय इतना नहीं था जितना कि धार्मिक था।

* * *

रूस में राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक सक्रिय मुसलमान वोल्गा घाटी के तातार थे। इनमें व्यापारी तथा आधुनिक शिक्षित बौद्धिक उच्चवर्गीय, दोनों, थे; इनमें से अध्यापक वर्ग विशेष महत्त्वपूर्ण था। उनमें सबसे अधिक व्यापक

राजनीतिक प्रवृत्ति पूर्ण सुधारवादी उदारतावाद की थी, परन्तु समाजवादियों की अल्पसंख्या अवश्य थी। जनतन्त्री स्वतन्त्रताओं, सबके लिए शिक्षा तथा महिला-सुधार, के सभी समर्थक थे। उन्हें यह आशा नहीं थी कि स्वतन्त्र तातार राज्य की स्थापना हो सकेगी। वे यह अनुभव करते थे कि रूसी सामाज्य की विद्यमानता, एक प्रकार से, उनके लाभ में है; कारण कि इसके भीतर वे सभी मुसलमानों में एक श्रेष्ठ वर्ग बने हुए थे। कज़ाकस्तेपियों और तुर्किस्तान तक में, साथ ही क्रीमिया में भी, उनका दबदबा माना जाता था। वे प्रादेशिक स्वायत्तता तक भी नहीं चाहते थे, इसका कारण यह था कि तातार इतने बिखरे हुए थे कि वे किसी स्थान को भी अपनी सुगठित मातृभूमि नहीं बता सकते थे। इससे अधिक तो वे यही अच्छा समझते थे कि वे सामाज्य के किसी भी भाग में क्यों न रहें, राज्य अपनी निजी भाषा बोलने वाले समान नागरिक के रूप में उनको आदर दे।

परन्तु एक विचारधारा और थी तथा राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत तातारों की अधिक संख्या इससे प्रभावित थी और रूसी साम्राज्य के प्रति इन तातारों की निष्ठा की इस विचारधारा से टक्कर होना सम्भावित था। यह विचारधारा अखिल तुर्कीवाद की, तुर्कों की एकता की, भावना थी अर्थात् उन सब लोगों की एक सर्वमान्य संस्कृति तथा सर्वमान्य राष्ट्रीयता का होना जिन की मातृ-भाषा तुर्की भाषा समूह में से कोई हो (उस्मानी तुर्की, अजेरी, तातारी, कज़ाकी, तुर्कमेनी, उज़्बेकी)। निस्सन्देह, यह कहा जा सकता है कि वोल्गा के तातारों में तुर्की भाषा के विशिष्ट लक्षणवाले तुर्की राष्ट्र की विचारधारा उसी समय उत्पन्न हो गई थी जबकि उस्मानी साम्राज्य के तुर्कों में तो इसका अता-पता भी नहीं था, उस्मानी तुर्क तो तबतक तुर्की राष्ट्रीयता को न तो इस्लाम के धार्मिक समुदाय से और न ही उस्मानी नागरिकता के राजनीतिक वर्ग से ही पृथक् समझ पाये थे। इस अर्थ में तो वोल्गा के तातार राष्ट्रवादी कमाल अता तुर्क के तुर्की राष्ट्रीयतावाद के पुरखा थे। तातार बौद्धिकों ने रूसी साम्राज्य के निवासी सभी तुर्कियों की उस्मानी तुर्की भाषा के आधार पर बनी हुई एक अकेली तुर्कीभाषा बनाने की चेष्टा की। इस विचारधारा का अग्रणी बख़चे-सराय के 'जदीद'-सम्प्रदाय का संस्थापक गार्सप्रिंस्कि था; इसने रूसी तथा तुर्की भाषा में "तर्जुमें' (अनुवादक) नाम के एक दो-भाषायी पत्र की भी स्थापना की थी—यह पत्र व्यापक रूप से तुर्कस्तान तक में पढ़ा जाता था। परन्तु वोल्गा, क्रीमिया, ट्रांस्काकेशिया तथा मध्य एशिया की तुर्की बोलियों को एक सर्वमान्य

भाषा बना देने का प्रयत्न असफल रहा ।

जब १९०६ में पहली रूसी संसद्, दूमा, बनाई गई तब उसके सदस्य मुसलमान भी थे । १९०७ में जब मताधिकार संकीर्ण कर दिया गया तो उनकी संख्या बहुत घट गई, परन्तु कुछ अंश बाकी रह गया । इन मुसलमान नेताओं को कुछ समय तक यह आशा रही कि रूस तथा उस्मानी तुर्की का परस्पर सहयोग रहेगा, यह कि इन दो राज्यों में बड़ी-बड़ी तुर्की आबादियां हैं इस कारण आपस में मित्रता रहेगी और यह कि रूसी तातार मध्यस्थ की भूमिका अदा कर सकेंगे । परन्तु यह बात शीघ्र ही स्पष्ट हो गई कि रूसी नीति तुर्की नीति के विरुद्ध है और यह कि रूस, सुल्तान के बाल्कन-इसाई शत्रुओं का पक्ष लेगा । अब तो कुछ तातारी नेता देश त्याग करके टर्की पहुँच गये और उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध में केन्द्रीय ताक़तों के पक्ष का समर्थन किया शेष फिर उदासीन हो गये ।

* * *

मध्य एशिया में 'जदीद' आन्दोलन के अनुयायी कम थे । दूसरी ओर परम्परागत स्मृतियों पर तथा धार्मिक विश्वास पर आधारित रूसी-शत्रुता का भाव प्रबल बना रहा । इन दोनों में से कोई भी शक्ति ऐसी नहीं थी कि जिसका कोई राजनीतिक प्रभाव रहा हो । इन वर्षों में रूसियों तथा मध्य एशियाइयों के मध्य संघर्ष का एक नया स्रोत कज़ाक-स्तेपियों में रूसी किसानों का बढ़ता उपनिवेशन तथा तुर्केस्तान में कुछ कम उपनिवेशन था । प्रथम विश्व युद्ध के तीसरे वर्ष रोष का एक और कारण उपस्थित हो गया । जून १९१६ में रूसी सरकार ने युद्ध मोर्चों के पृष्ठभाग में श्रम सेवा के लिये मध्य एशिया के लोगों की उपस्थिति चाही । इससे असन्तोष के विद्यमान कारणों में वृद्धि हो गई, जिसके कारण तुर्केस्तान, तुर्कमेनिया तथा कजाक स्तेपियों के विभिन्न भागों में कई ख़ूनी विद्रोहों को मौक़ा मिल गया और बड़ी क्रूरता से उनका दमन किया गया ।

उस बहु-राष्ट्रीय रूसी साम्राज्य ने, जिसकी ५५ प्रतिशत प्रजा रूसी नहीं थी, अगस्त १९१४ में जब प्रथम विश्व युद्ध में प्रवेश किया, उस समय इसके सामाजिक तथा राष्ट्रीय संघर्षों का समाधान अभी बहुत दूर था । युद्ध में हुई पराजय ने क्रान्ति कर दी और क्रान्ति ने पराधीन लोगों को नये अवसर प्रदान किये । जब नवम्बर १९१७ की दूसरी क्रांन्ति में लेनिन ने सत्ता हथिया ली तब उनके सामने जो समस्याएँ उपस्थित हुईं उनमें 'राष्ट्रीय समस्या' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी ।

बोल्शेविक क्रान्ति

मार्क्सवादी होने के नाते लेनिन यह मानता था कि मानव समाज का विकास होते-होते जैसे एक विशेष अवस्था आने पर धर्म का उद्भव हो जाता है वैसे ही एक अवस्था-विशेष में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो जाता है। राष्ट्रीयता का अर्थात् इस राष्ट्रीय सिद्धान्त का कि राज्यों की सीमाओं का आधार उनके निवासियों की राष्ट्रियता होना चाहिये और इस सिद्धान्त का कि प्रत्येक जाति को उसकी इच्छानुसार स्वशासन का अथवा अपनी निजी स्वतंत्र सरकार बना लेने तक का भी अधिकार होना चाहिये, सम्बन्ध स्पष्ट ही पूंजीवाद की वृद्धि और बुर्जुआ वर्गों की रचना से है। समाजवाद जैसे-जैसे पूंजी-पद्धति को हटाता चला जायगा, वैसे-वैसे राष्ट्रीयता की भावना भी निर्बल होती चली जायगी और अन्त में लुप्त हो जायगी। लेनिन के मतानुसार राष्ट्रीयता की भावना की गणना इतिहास के आधार-भूत घटकों में नहीं है। वह तो आर्थिक घटकों को इतिहास के आधारभूत घटक मानता था। जिन उत्पादन-शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों से वर्गसंघर्ष उत्पन्न हुए उनमें होने वाले परिवर्तन ही उसके मतानुसार, मानव-इतिहास को गति प्रदान करने वाले होते हैं।

तथापि, कुछ देर के लिये तो राष्ट्रीयता की भावना एक प्रबल राजनीतिक शक्ति रहती ही है और लेनिन इतना बड़ा व्यावहारिक पुरुष था कि वह इस बात को समझता ही। रूसी साम्राज्य में प्रभुता-शक्ति-सम्पन्न ग्रेट-रूसियों को नियंत्रित रखने के उद्देश्य से प्रचलित कौमी भावना बढ़ रही थी और कई विभिन्न आधीनस्थ कौमों में तो आपस में कौमी संघर्ष होने की बहुत-सी घटनायें हुईं। इन संघर्षों में से जो संघर्ष रूसी सरकार के हथकंडों के द्वारा किये गये हो सकते थे (जैसे कि अर्मीनियाईयों और अजेरी तुर्कों में हुआ) उन्होंने तो असन्तोष का ध्यान उसके प्राकृतिक तथा आर्थिक उद्देश्यों से परे हटाया और इस प्रकार क्रान्तिकारी लक्ष्य को धक्का पहुँचाया। परन्तु जो संघर्ष क्रान्तिकारियों के हथकंडों से उत्पन्न हो सकते थे वे सरकार के विरुद्ध एक बहु-

मूल्य ग्रतिरिक्त [illegible] की शक्ति वन सके ग्रौर इस प्रकार क्रांतिकारी लक्ष्य को प्राप्ति में सहायक वन सके ।

लेनिन ने जैसे भू-स्वामियों तथा वुर्जुग्राग्रों द्वारा मजदूरों ग्रौर किसानों के शोषण को त्याज्य ठहराया वैसे ही उसने एक क़ौम पर दूसरी क़ौम के प्रभुत्व को भी हृदय से त्याज्य ठहराया । भविष्य में जो समाजवादी राज्य बनेगा उसमें राष्ट्रिक उत्पीडन अथवा भेदभाव को कोई स्थान नहीं था । इस वात पर सभी समाजवादी वरायनाम सहमत ही थे । परन्तु समस्या के विविध सम्भव समाधान सुझाये गये । एक सुझाव ग्रास्ट्रियाई समाजवादियों—ग्रोटो बौग्रर ग्रौर कार्ल रेनर—ने दिया था । उनका सुझाव यह था कि प्रत्येक नागरिक की एक ग्रपनी वैयक्तिक राष्ट्रिकता होनी चाहिये ग्रौर सरकार को उसका ग्रादर करना चाहिये ग्रौर कौमी संस्कृति के मामलों में इस राष्ट्रिकता पर उसी क़ौम के सदस्यों द्वारा निर्वाचित स्वायत्त संस्था का नियंत्रण रहना चाहिये । इस सांस्कृतिक स्वाधीनता के साथ राजनीतिक केन्द्रीय-शासन का संयोग रहना चाहिये : व्यक्तिशः जातीय संस्कृतियों से ग्रसम्बद्ध सभी मामलों में केन्द्रीय सरकार की सत्ता सभी प्रजाजनों को उसी प्रकार बाधित रूप से मान्य होनी चाहिये । यह योजना बहु-जातीय ग्रास्ट्रो-हंगेरियन एकतन्त्र शासन की परिस्थितियों के लिये विशेष रूप से वनाई गई थी—इस एकतन्त्र राज्य में घनी ग्रावादी के किन्हीं वड़े क्षेत्रों को छोड़कर शेष सभी विस्तृत इलाकों में वहुत-सी छोटी-छोटी विरादरियाँ विखरी पड़ी थीं । रूसी साम्राज्य में भी यही परिस्थितियाँ विद्यमान थीं । उदाहरण के लिये यूरोपीय रूस, काकेशस ग्रौर मध्य एशिया में छोटी-वड़ी विविध परिमाण की जर्मन, पोल, यहूदी, तातारी ग्रौर ग्रर्मीनियायी बिरादरियाँ विद्यमान थीं । राष्ट्रिकता की समस्या का एक दूसरे प्रकार का समाधान, निस्सन्देह, संघवाद था । इसके ग्रनुसार सघन विरादरी वाले प्रत्येक बड़े प्रदेश को स्वायत्त शासन के ग्रधिकार होते ग्रौर प्रदेश केवल-मात्र सर्व सामान्य हितों—विदेश नीति, सुरक्षा ग्रौर मुद्रा ग्रादि के लिये ही इकट्ठे होते । 'संघ शासन' का मुख्य नमूना, निस्सन्देह, संयुक्त राज्य (ग्रमरीका) था परन्तु १९वीं सदी के जर्मनी में विविध प्रकार के ग्रर्धसंघीय ग्रथवा संघीय प्रशासन के नमूने ढूँढ कर निकाले जा सकते थे ।

* * *

लेनिन ने संघीय प्रशासन की योजना तथा जातीय सांस्कृतिक स्वायत्तशासन की बौग्रर की योजना—दोनों योजनाग्रों को, त्याज्य ठहरा दिया । उसकी तो

यह मान्यता रही कि समाजवादी राज्य केन्द्रीकृत और [illegible] होने चाहिएँ। साथ ही वह यह भी मानता था कि यदि कोई राज्य अपना निजी केन्द्रीकृत राज्य स्थापित करना चाहे तो उसे वैसा करने की आजादी होनी चाहिये। लेनिन की कल्पना के समाजवादी दल के साथ भी यही सिद्धान्त लागू होता था। दल के भीतर किसी विशेष जाति के सदस्यों अथवा धर्मविशेष का पालन करने वालों को (जैसी कि रूस में यहूदी समाजवादी संगठन, "बुन्द" ने मांग की थी) विशेष स्वाधीनता नहीं दी जा सकती थी। लेनिन के मतानुसार एक पृथक् मजदूर वर्ग को अपना निजी समाजवादी दल बनाने का अधिकार होना चाहिये परन्तु जो भी कोई उसके बोल्शेविक दल का सदस्य बनेगा उसको सभी मामलों में बोल्शेविक दल के आदेशों का पालन करना होगा और रूसी क़ौम से भिन्न क़ौम का होने के कारण उसे किसी विशेष स्थिति की मांग नहीं करनी होगी। इसीलिये लेनिन एक ओर तो अपने निजी बोल्शेविक (पीछे से साम्यवादीकम्युनिस्ट) दल में विशुद्ध केन्द्रीय शासनवाद का और दूसरी ओर रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र-जाति को आत्म-निर्णय का अधिकार दिये जाने का समर्थक था। साथ ही उसका यह विश्वास था कि राष्ट्रजातियाँ "पृथक् न किया जाना" ही चुनेंगी। उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार तो मिलना ही चाहिये परन्तु उन्हें एक होने का भी अधिकार होना चाहिये। निश्चय ही लेनिन को छोटे-छोटे राज्यों का प्राचुर्य पसन्द नहीं था। परन्तु उसे इस बात का आग्रह था कि इसका निर्णय करना उनका काम है और यह कि यह बात अनुचित तथा अस्वीकार्य है कि प्रभुत्तासम्पन्न क़ौम (रूस में ग्रेटरशियन लोग) उनकी ओर से निर्णय करे।

तथापि 'सम्बन्धविच्छेद की सीमा तक आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त का व्यवहार में प्रयोग करना सुगम नहीं था। राष्ट्र-जातियाँ, राजनीतिक दृष्टि से एक नहीं हुई थीं। निर्णय करने का अधिकार किस राजनीतिक समुदाय का है? क्या क़ौम की अभिलाषा का प्रतिनिधि प्रबलतम राजनीतिक समुदाय को स्वीकार किया जाय, भले ही उसका नेतृत्व अनुदारों अथवा बुर्जुआ उदारों के हाथ में हो और वह अपने उन देशवासियों से संघर्ष कर रहा हो जो समाजवादी होते? अथवा क्या किसी समाजवादी दल को प्रतिनिधि माना जाय और उसको बोल्शेविकों की सैनिक सहायता दी जाय, भले ही उसके अपने देशवासियों को केवल अल्पमत का ही समर्थन क्यों न प्राप्त हो? 'क्रान्ति' से पूर्व बोल्शेविकों ने इस "राष्ट्रीय-समस्या" पर जो सैद्धान्तिकवाद किये उनमें इस समस्या का

कोई स्पष्ट समाधान नहीं हो पाया।

* * *

नवम्बर १९१७ में जब लेनिन ने सत्ता हथियाई तब, मार्च की प्रथम क्रांति के बाद पर्याप्त आगे बढ़े, गैर-रूसियों के राष्ट्र-जातीय आन्दोलनों ने रूसी साम्राज्य के सन्मुख विघटन का आतंक उपस्थित कर ही दिया था। इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र, जिन पर यहाँ संक्षेप से विचार किया जाता है, पश्चिमी सीमावर्ती प्रदेश उक्रइन, ट्रान्सकाकेशिया और तातार भूमियाँ हैं।

जारशाही के पतन से फिन्नियों को मौका मिल गया कि वे रूस से अलग हो जावें। पिछले बीस वर्षों में रूसीकरण का जो अनुभव उन्हें हो चुका था उसने उन्हें निश्चय दिला दिया था कि पूर्ण स्वाधीनता से कम कुछ भी सम्भव नहीं था। बाल्टिक प्रान्तों के जर्मन जर्मन सेनाओं की विजयों से प्रभावित थे और १९०६ के बाद केवल थोड़ी-बहुत बदली हुई वही रूसीकरण-नीतियाँ उन्हें स्मरण थीं, इसलिये उन्होंने जर्मनी से मिल जाने की आशा लगा रखी थी। साथ ही एस्तोनियाई तथा लातवियाई अब जर्मनों तथा रूसियों, दोनों ,के लगभग एकसमान विरोधी थे। सघन पोल बस्ती वाले क्षेत्रों पर इस समय जर्मन सेना का अधिकार था और जर्मन फौजें लिथुआनियाई सीमा प्रदेशों की ओर बढ़ी चली आ रही थीं।

उक्रइन में उग्र बौद्धिकों के एक गुट्ट ने, मार्च क्रान्ति के शीघ्र ही पश्चात् एक उक्रइनी कौमी समिति (रादा) की स्थापना कर ली थी। इसने पहले पहल मुख्यतया सांस्कृतिक मामलों से सम्बन्ध रखा, भाषण तथा लेखन में उक्रइन भाषा की पूरी आज़ादी का निश्चय दिलाया। अगले महीनों में प्रमुख राजनीतिक दलों और सैनिकों, किसानों तथा मजदूरों के संगठनों ने इसका समर्थन किया और यह अधिक प्रतिनिधि संस्था बन गई और फिर उक्रइन की अस्थायी संसद् बन गई जिसकी अपनी अस्थायी कार्यकारिणी समिति बनी और प्रधान सचिवालय बना दिये गये। इसने पेत्रोग्राद में स्थित अस्थायी सरकार से बातचीत शुरू की परन्तु दोनों में समझौता नहीं हो सका। बोल्शेविक क्रान्ति के दिनों में रादा ही ऐसी संस्था थी जिसको उक्रइन में सबसे अधिक प्रभावी अधिकार प्राप्त थे। यह इस बात के पक्ष में थी कि किसी प्रकार के संघीय रूसी गणतन्त्र के अन्तर्गत उक्रइन को दूरव्यापी स्वायत्त शासन मिले।

ट्रान्सकाकेशिया में अर्मीनियाइयों और जार्जियाइयों में से कोई भी रूस से अलग नहीं होना चाहता था परन्तु अजेरी तुर्क एक ऐसे राजनीतिक वाद में

उलझे हुये थे जो अब रूस के राजनीतिक झुकाव वाले सभी मुस्लिम समुदायों में फैल गया।

१४ मई १९१७ को मास्को में अखिल रूसी मुस्लिम कांग्रेस हुई, इसमें मुस्लिम आबादी के प्रमुख प्रदेशों ने अपने प्रतिनिधि भेजे। यहाँ दो प्रमुख दृष्टिकोण दिखाई दिये। सीमावर्ती भूमियों, विशेषकर आज़रबाइजान और मध्यएशिया के प्रतिनिधियों की इच्छा थी कि रूस के अन्तर्गत प्रादेशिक स्वायत्त शासन हो। वोल्गा के तातार, यद्यपि कहीं घने तो वसे हुए नहीं थे—परन्तु रूस भर में उनकी बिरादरी बिखारी हुई थी, उन्होंने यह योजना रखी कि सभी मुसलमानों की सांस्कृतिक स्वायत्तता के साथ-साथ रूसी गणतन्त्र की केन्द्रीकृत सरकार हो, यह योजना आस्ट्रियाई समाजवादियों, बौअर और रेनर, की योजना से बहुत मिलती थी। सीमावर्ती प्रदेशवासियों ने इस योजना का केवल इसी कारण विरोध नहीं किया कि उन्हें तो मुख्य रूप से केवल अपनी निजी प्रदेशों की आवश्यकताओं से मतलब था, अपितु उन्होंने इस योजना का इस कारण भी विरोध किया कि उन्हें रूसी मुसलमानों में सबसे अधिक शिक्षित तथा सामाजिक स्थिति में सबसे अधिक उन्नत तातारों के प्रति कुछ अविश्वास था। उनका यह विश्वास था, और सकारण विश्वास था कि यदि मुस्लिम सांस्कृतिक मामलों की व्यवस्था के हेतु तातारों द्वारा प्रस्तुत केन्द्रीय संस्था की स्थापना कर दी गई तो यद्यपि कहने को तो यह सभी मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था होगी, परन्तु इसमें प्रभुत्व तातारों का रहेगा और यह मध्यएशिया का एक प्रकार का 'तातारीकरण' कर देगी। इसलिये कांग्रेस में प्रादेशिक स्वायत्तशासन की नीति की भारी बहुमत से विजय हुई। कांग्रेस ने मुस्लिम दृष्टिकोण को रूसी सरकार के समक्ष उपस्थित करने के लिये एक 'मुस्लिम नेशनल कौंसिल' (शूरा) स्थापना कर दी।

* * *

१९१७ में सत्ता हथिया लेने के बाद लेनिन ने गैर-रूसियों में विद्यमान इस अस्थिर स्थिति का उपाय अपनी 'आत्म-निर्णय' की नीति को कार्यान्वित करके, करने का दृढ़ निश्चय किया। परन्तु सब कुछ इस बात पर निर्भर था कि जर्मनी और उसके मित्रों से सन्धि किन शर्तों पर होती है। बोल्शेविक सरकार को, मार्च १९१८ की ब्रेस्त-लितोव्स्क की शान्तिसन्धि और उसके परिणाम भूत कई निर्णयों से वस्तुतः बाधित होकर उक्रइन तथा ट्रांसकाकेशिया के अपने सभी पश्चिमी प्रदेशों की हानि सहनी पड़ी। क्रमशः इन पर संक्षिप्त विचार करना

पड़ेगा ।

बोल्शेविकों ने फिनलैंड की स्वाधीनता मान ली। परन्तु जनवरी १९१८ के अन्त में समाजवादियों तथा अनुदार राष्ट्रवादियों में गृह युद्ध आरम्भ हो गया। फिनलैंड में स्थित कई रूसी सैनिकों ने जो बोल्शेविकों के भक्त थे, फिन्नी समाजवादी सेनाओं की कुछ सहायता कर दी—और फिन्नी अनुदारों ने जर्मनों से कुछ सैनिक सहायता ले ली। परन्तु लड़ाई मुख्यतया फिन्नियों में ही हुई और मई १९१८ में दक्षिण पन्थियों की विजय के साथ इसकी समाप्ति हुई। बाल्टिक प्रान्तों पर जर्मन सेना ने अधिकार जमा लिया और विलियम द्वितीय के सेनापतियों के संरक्षण में स्थानीय जर्मन शासन करते रहे। पोलैंड भी जर्मन-शासन के आधीन रहा। श्वेत रूसी सीमाप्रदेशों में १९१७ के अन्त में श्वेत रूसी राष्ट्र-वादियों और मिंस्क में स्थापित श्वेतरूसी बोल्शेविक पदाधिकारी के मध्य संघर्ष हुआ। वढ़ती जर्मन सेना ने अपना एक निजी श्वेतरूसी कठपुतली प्रशासन स्थापित कर दिया। लिथुआनिया में भी जर्मनों के संरक्षण में एक राज्य स्थापित था; इसने फर्वरी १९१८ में लिथुआनियाई राज्य के स्वतंत्र होने की घोषणा कर दी। बेसाराबिया में १९१७ के अन्त में एक भूमि समिति की स्थापना हुई जिसमें रूमानियाई आवादी के सर्वाधिक राजनीतिक रुचिवाले तत्त्वों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इसने जनवरी १९१८ में रूमानिया की सरकार से अनुरोध किया कि वह बोल्शेविकों की भक्त स्थानीय शक्तियों से हमारी रक्षा के लिये सेना भेजे। ९ अप्रैल १९१८ को इस समिति ने एक प्रस्ताव इस आशय का स्वीकार किया कि बेसाराबिया और रूमानिया की संयुक्त सरकार बना दी जाय।

बोल्शेविकों ने उक्रइन जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार तो कर लिया था परन्तु वे इस अधिकार को रादा को बरतने देना नहीं चाहते थे। बड़े नगरों के मजदूरों की संख्या पर निर्भर करके—(इनमें अधिक संख्या उक्रइनी नहीं, रूसी मजदूरों की थी) उन्हें आशा थी कि उक्रइन में उन्हें अपने शासन का समर्थन मिल जायगा। दिसम्बर १९१७ में कीयेव में मजदूर-सोवियतों की उक्रइनी कांग्रेस हुई परन्तु इसमें बोल्शेविक अल्पसंख्यक थे। इन अल्पसंख्यकों ने कांग्रेस का बहिष्कार कर दिया, और वे उक्रइन के दूसरे नगर खारकोव में पहुँचे और वहाँ अपने नाम पर प्रतिद्वन्द्वी उक्रइन सरकार की स्थापना कर दी। इस खारकोव सरकार की नाममात्र की सहायता करने के लिये जनवरी १९१८ में बोल्शेविक सैनिकों ने उक्रइन पर आक्रमण कर दिया। रादा

के नेताओं ने जर्मनों से अनुरोध किया, जर्मनों ने उक्रइन की स्वाधीनता को मान्यता प्रदान की और इसके प्रदेश पर अधिकार कर लिया और ब्रेस्त—लितोव्स्क की शान्ति-सन्धि द्वारा उक्रइन को स्वतंत्र राज्य स्वीकार करने को बाध्य कर दिया। इस प्रकार रूस ने अपनी सबसे अधिक बहुमूल्य अन्न-भूमियाँ और अत्यन्त उन्नत धातु-उद्योग गँवा दिये।

ट्रांसकाकेशिया में प्रमुख राजनीति दलों—जार्जियाई मेन्शेविकों ने, अर्मीनियाई क्रांतिकारीसंघ और अज़ेरी तातारों के जनतंत्री दल—'मुसावात' (समानता) ने ट्रांस्काकेशियन कमिस्सरेट नाम से एक स्थानीय अस्थायी सरकार की स्थापना कर ली। बोल्शेविकों से उनका अन्तिम विच्छेद इस बात पर हुआ कि बोल्शेविकों ने ब्रेस्तलितोव्स्क की शांतिसन्धि के जिन भागों द्वारा ट्रांस्काकेशिया के प्रदेश जर्मनी के मित्र तुर्की को दे दिये थे उनको इन्होंने अस्वीकार कर दिया। २२ अप्रैल को उन्होंने स्वतंत्र ट्रांसकाकेशियाई संघीय गणतंत्र की स्थापना की घोषणा कर दी। एक महीने बाद इसके तीन घटक राष्ट्र, जार्जिया, अर्मीनिया और आज़रबाइजान नाम से तीन पृथक्-पृथक् गणतंत्र बन गये। जार्जिया ने जर्मनों की शरण ली—उन्होंने इसको भविष्य में तुर्की दावों के विरुद्ध गारंटी दी। अर्मीनिया पर शीघ्र ही तुर्कों ने आक्रमण कर दिया। आज़रबाइजान में बाकू के औद्योगिक नगर पर रूसी और अर्मीनियाई राजनीतिक दलों (पहले बोल्शेविकों का और फिर नरमदली समाजवादियों का) अधिकार रहा और 'मुसावात' ने देहात को अपने नियंत्रण में रखा और आगे बढ़ती तुर्की सेना से सहयोग किया। सितम्बर १९१८ में बाकू पर तुर्कों का अधिकार हो गया।

इस प्रकार हमने देखा कि १९१८ में युक्रेन, ट्रांसकाकेशिया अथवा पश्चिमी सीमा प्रदेशों पर लेनिन की सरकार का कोई अधिकार नहीं रहा परन्तु उत्तरी और मध्य रूस में उसका थोड़ा बहुत प्रभाव रहा और एशियाई रूस के अधिकांश पर प्रभाव गर्मियों के अन्त तक बना रहा। इस बड़े, यद्यपि अल्पीभूत, क्षेत्र के भीतर बोल्शेविकों के लिये 'जातीयताओं की समस्या' इस बात में थी कि मुस्लिम जनता से अर्थात् तातारों और मध्य एशिया से सम्बन्ध कैसे बनाये रखा जाय।

* * *

मुसलमानों में से जिन पर बोल्शेविक प्रभाव सबसे अधिक पड़ा वे वोल्गा के तातार थे—इनमें बौद्धिक विशिष्टजन पर्याप्त संख्या में थे और इनमें

कुछ अल्पसंख्यक समाजवादी भी थे। गैर-रूसी जनों की समस्याओं पर लेनिन का प्रमुख सलाहकार जे. वी. स्तालिन था; यह बोल्शेविक सरकार में "राष्ट्र-जातियों के जन कमिस्सार" के पद पर अधिष्ठित था। जनवरी १९१८ में रूसी अन्त:प्रदेश के लिये केन्द्रीय मुस्लिम कमिस्सार परिषद् की स्थापना की गई, इसका अध्यक्ष मुल्ला नूर वाखितोव नाम का एक तातार था। इस बीच, मई १९१७ की मुस्लिम कांग्रेस द्वारा स्थापित "शूरा" (धर्मसभा) अभी तक पेत्रोग्राद में विद्यमान थी और इसकी अपनी अधीनस्थ शाखायें भी थीं—जिनमें से दो प्रमुख कजान और उफ़ा में थीं। कज़ान में एक मुस्लिम ऐसेम्बली (मज़लिस) की बैठक भी होती थी। फरवरी १९१८ में मजलिस ने वोल्गा-युराल स्वायत्त राज्य का समर्थन कर दिया और आदेश दे दिया कि इस प्रदेश की जनता की एक संविधान सभा की रचना की जाय। बोल्शेविकों ने बल प्रयोग करके ऐसा नहीं होने दिया। कज़ान स्थित उनकी सैनिक टुकड़ियों ने—जिसमें रूसी सैनिक थे—मास्को से आई रूसी टुकड़ियों की सहायता से, भीषण युद्ध के पश्चात् नगर का तातार-प्रधान कार्यालय अपने कब्ज़े में कर लिया और मज़लिस को तथा मुस्लिम आन्दोलन की दूसरी प्रान्तीय संस्थाओं को कुचल डाला।

बोल्शेविक सरकार वाखिलोव की कमिस्सार परिषद् के माध्यम से काम करती थी, बोलशेविक सरकार के समर्थन में वाखिलोव कुछ तातारों की भर्ती करके तातारी सैनिक टुकड़ियाँ खड़ी करने में सफल हो सका। मार्च में रूसी सोवियतसंघ के एक तातार-बाशकीर सोवियत गणतंत्र की स्थापना की घोषणा कर दी गई। पराजित मुस्लिम राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तावित वोल्गाउराल राज्य के विकल्प में यह गणतंत्र बोल्शेविकों का विकल्प था। इसका शासन स्थानीय साम्यवादी करते। इसका इलाक़ा इस ढंग से रखा गया था कि इसमें रूसियों द्वारा आबाद बड़े प्रदेश और चुवाश तथा चेरेमिस जैसे लघुतर राष्ट्रों के समूहों द्वारा आबाद प्रदेश भी आ गये। इस इलाक़े की आबादी में तातार और बाशकीरों का निरपेक्ष बहुमत नहीं था। जून १९१८ में वाखिलोव ने अपनी कमिस्सार परिषद् की प्रांतीय शाखाओं का सम्मेलन किया और मुस्लिम बिरादरियों का रूसी दल स्थापित किया जिसकी केन्द्रीय समिति भी अलग बनाई गई। परन्तु इसके बाद शीघ्र ही रूस में बड़े पैमाने पर गृहयुद्ध हो गया—इसका आरम्भ चेक सैन्य दल और बोल्शेविक सेनाओं के सशस्त्र संघर्ष और चेक संरक्षण में एक बोल्शेविक-विरोधी प्रशासन के निर्माण से हुआ था। चेक सेनाओं ने

कजान पर कब्जा कर लिया था; बन्दियों में वाखिलोव भी था, उसे क़त्ल कर दिया गया। अगले वर्ष वोल्गा-उराल क्षेत्र रूसी लाल और श्वेत सेनाओं के मध्य गृहयुद्ध का घटनास्थल बना रहा। दोनों पक्षों ने बारी-बारी से तातार भूमि को रौंदा और उन भूमियों की भविष्य की योजनाओं को स्थगित करना पड़ा।

दक्षिणी उराल प्रदेशों के बाशकीरों का तातारों से निकट का रिश्ता था परन्तु उनपर अभी तक आधुनिक विचारों का बहुत कम प्रभाव था, इन्होंने ज़ेकी वालीदोव को अपना नेता चुना। फरवरी १९१८ में इसको बोल्शेविकों ने ओरेनबर्ग में क़ैद कर लिया परन्तु यह निकल भागा और इसने एक छोटी-सी बाशकीर सशस्त्र सेना संगठित करली—इसकी सहायता से यह श्वेतसेना की ओर से लड़ता रहा। परन्तु एडमिरल कोल्चाक तथा श्वेतसेना के अफसरों के दुराग्रही साम्राज्यवाद ने उसका श्वेतसेनाओं से सम्बन्ध विच्छेद करा दिया—उसने बोल्शेविकों से समझौता कर लिया। वालिदोव को यह वचन दिया गया कि एक निर्वाचित क्रांतिकारी समिति (बाश-रेव-कोमे) द्वारा शासित 'स्वायत्त बाशकीर गणराज्य' बना दिया जायगा और वह फरवरी १९१९ में अपनी सेना को लाल सेना के पक्ष में ले आया।

कज़ाख-स्तेपियों में १९१७ में "अलाशऊर्दा" नाम का एक राष्ट्रवादी दल बन चुका था—इसका नेतृत्व विशेषकर आधुनिक-शिक्षित बौद्धिक विशिष्ट वर्ग के हाथ में था। इसके नेताओं ने १९१८ में श्वेतों को सहयोग दिया परन्तु बाशकीरों की तरह वे भी कोल्चाक के दुराग्रही रूसी साम्राज्यवाद के कारण उनके विरोधी हो गये। १९१९ की गरमियों में जब यह स्पष्ट हो गया कि श्वेतसेना साइबेरिया में हार रही है और जब बोल्शेविक राष्ट्रिक कौमों को स्वतन्त्रता का तथा अपने पहले के विरोधियों को क्षमा प्रदान करने का वचन दे रहे थे तब प्रमुख राष्ट्रीय नेता अखमेद बैतुर्सुनोव समेत बहुत से कज़ाक लाल सेना की ओर हो गये।

तुर्केस्तानों की राजधानी ताशकन्द में रेल कर्मचारियों और अफ़सरों की बड़ी रूसी आबादी थी—इस पर १९१७ की नवम्बर क्रांति के समय बोल्शेविकों ने कब्ज़ा कर लिया था। परन्तु इसके देहात में, जहां उज़बेकों और ताज़िकों की मुस्लिम आबादी बहुत अधिक थी, लोग मुस्लिम राष्ट्रीय नेताओं के अनुयायी रहे। राष्ट्रवादियों ने ताशकन्द में बोल्शेविकों से समझौते की बातचीत की। परन्तु बोल्शेविकों ने तुर्केस्तान में प्रभावी स्वायत्त शासन की स्थापना की मांग को तो ठुकरा ही दिया अपितु उन्होंने प्रदेश के बोल्शेविक

प्रशासन में मुसलमानों को सम्मिलित करने का भी विरोध किया । वस्तुतः ताशकन्द के रूसी मजदूरों और छोटे अफ़सरों ने 'देसियों' के प्रति शाही रूसी राज्य के गवर्नरों और अधिकारियों की अपेक्षा अधिक उत्कट और साम्राज्य-वादी रुख प्रदर्शित किया । इस विषय में उनकी तुलना दक्षिणी अफ्रीका के 'गरीब श्वेतों' से अथवा संयुक्तराष्ट्र अमरीका के दक्षिणी राज्यों से अथवा अल्जीरिया अथवा सेनेगाल के छोटे-मोटे निष्प्रभावी कबीलों से की जा सकती है।

राष्ट्रवादी मुसलमानों ने नवम्बर १९१७ के अन्त में कोकान्द में अपनी महा-सभा जुटाई और एक अस्थायी ऐसेम्बली तथा अस्थायी सरकार का चुनाव किया। परन्तु फरवरी १९१८ में ताशकन्द के बोल्शेविकों ने कोकान्द पर कब्ज़ा कर लिया और शहर की आबादी के अधिकांश की हत्या कर दी गई। मार्च में उन्होंने बोखारा संरक्षित राज्य पर आक्रमण किया परन्तु हार गये । तथापि तुर्केस्तान का अधिक बड़ा भाग ताशकन्द के अधिकार में रहा। मुस्लिमों पर आतंक का राज्य लाद दिया गया । १९२१ में एक साम्यवादी अधिकारी ने इस राज्य को "रूसी लाल सैनिकों, उपनिवेशियों और अधिकारियों द्वारा व्यापक देशी जनता का सामान्ती शोषण" बताया था। मास्कोस्थित सरकार को यहाँ की घटनाओं की कुछ सूचना मिली, तब उन्होंने बार-बार विरोध पत्र और निर्देश भेजे परन्तु इनका वस्तुतः कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ । १९१९ के अन्त में साइबेरिया में श्वेत सेनाओं की अन्तिम पराजय के बाद ही केन्द्रीय बोल्शेविक सरकार की तुर्केस्तान में सीधी पहुँच हो पायी और पुनर्व्यवस्था को कठोरता से कार्यान्वित करने के लिए एक विशेष आयोग को भेज पायी।

* * *

नवम्बर १९१८ में जर्मनी के पतन का अर्थ था ब्रेस्तलितोव्स्क समझौते की समाप्ति और पश्चिमी प्रदेशों और उक्रइन में बोल्शेविक कार्रवाई की सम्भा-वना। लेनिन ने शीघ्र ही यह दिखा दिया कि वह आत्मनिर्णय के सिद्धांत की व्याख्या अपनी सर्वोत्तम सुविधा के अनुसार करना चाहता है । जहाँ सम्भव था वहाँ 'सर्वहारा' दलों को अपने देशवासियों का प्रतिनिधि स्वीकार किया जाना था और इसीलिये 'विच्छेद' और 'मिलन' में चुनाव के अधिकार को भी वे ही बदलते और कौन से दल 'श्रमजीवी' अथवा 'सर्वहारा' हैं, इसका निर्णय मास्को सरकार के हाथ में रहना था। निस्सन्देह व्यवहार में इसका अभिप्राय यह था कि जहाँ सम्भव होगा वहाँ साम्यवादी दल को ही सेना की सहायता दी जायेगी प्रत्येक मामले में संघर्ष का परिणाम लोगों की अभिलाषा पर

निर्भर नहीं होगा अपितु सैनिक शक्ति से इसका निर्णय होगा।

बाल्टिक राज्यों में बोल्शेविकों ने शीघ्र ही हस्तक्षेप किया। रूसी सीमा के समीपवर्ती नार्वा में एस्तोनियाई सोवियत गणतंत्र की घोषणा कर दी गई। इसको कोई वास्तविक समर्थन नहीं मिला; जर्मनों से सत्ता हथियाने वाले एस्तोनियाई राष्ट्रवादियों ने इसे हरा दिया। लातविया में रीगा के मजदूर वर्ग पर निर्भर स्थानीय साम्यवादी आन्दोलन को वास्तविक समर्थन मिला। लातवियाई राष्ट्रीयतावादियों, लातवियाई साम्यवादियों और जर्मन सेना के अवशेषों से समर्थित जर्मन बिरादरी के मध्य त्रिपक्षीय संघर्ष चालू हो गया। जनवरी से जून १९१९ तक रीगाजा पर साम्यवादियों का अधिकार रहा। अन्त में लातवियाई राष्ट्रीयतावादी जीत गये और एस्तोनिया की भाँति लातविया भी स्वतंत्र राज्य बन गया। लिथुआनिया में भी यही परिणाम हुआ—यहाँ विल्नो नगर के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर साम्यवाद को न के बराबर ही समर्थन मिला; विल्ना पर १९१९ के आरम्भ में तो थोड़े समय तक बोल्शेविकों का अधिकार रहा परन्तु फिर उस पर पोल सेना ने कब्ज़ा कर लिया। श्वेत रूस में बोल्शेविकों ने मिंस्क में तो सरकार की स्थापना करली थी परन्तु पश्चिम की ओर स्वामिहीन प्रदेश बना रहा—इसमें बोल्शेविकों की सरकार और पुनरुज्जीवित पोल राज्य में रुक-रुक कर मुठभेड़ होती रही।

उक्रइन में जर्मनी की हार के बाद बोल्शेविकों और वामपक्षी उक्रइनी राष्ट्रीयता वादियों में संघर्ष चल पड़ा। फरवरी १९१९ में लाल सेना ने उक्रइन के अधिकांश पर अधिकार कर लिया। १९१९ में जनरल देनीकिन की रूसी श्वेत सेना के रूप में एक नई शक्ति का उदय हो गया। पश्चिमी ताक़तों द्वारा पहुँचाई गई शस्त्रास्त्र और सामान की सहायता से सुसज्जित देनीकिन उक्रइन को तेज़ी से पार कर गया और मास्को से २५० मील पर रह गया। परन्तु लाल सेना से हार खाकर वह जल्दी-जल्दी दक्षिण की ओर लौट गया।

परन्तु उक्रइन १९२० में एक और सैनिक अभियान की रंगभूमि बना; इस समय इस पर पोल सेना ने हमला किया। पोलों ने कीयेव को ले लिया परन्तु उनकी सफलता शीघ्र ही असफलता बन गई। उक्रइन आबादी ने उन्हें कोई सहायता नहीं दी। पोल सेना वापस लौटी और उसका अभियान भगदड़ में परिणत हो गया। लाल सेना ने इसका पीछा किया और पोलनगर ब्यालिस्तोक में पोल साम्यवादियों की एक अस्थायी कठपुतली सरकार स्थापित करली—इस सरकार का नेतृत्व बोल्शेविक सुरक्षा पुलिस के मुखिया पोलैंड-जन्मा फैलि-क्स

द्ज़ेर्जीन्स्की के हाथ में रहा। पिल्सुद्स्की ने जवाबी हमला किया और लाल सेना रूस की ओर लौट पड़ी। विराम सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये और समझौते की बातचीत का अन्त मार्च १९२१ में रीगा की शान्ति सन्धि के रूप में हुआ। (इसके अनुसार) श्वेत रूस और उक्रइन को पोलैंड और रूस में बाँट दिया गया। १९२० में ही बोल्शेविक सरकार ने एस्तोनिया, लातविया और लिथुआनिया से भी सन्धियाँ कीं—इस प्रकार इन तीन देशों से ऐसी सीमा-रेखायें स्थापित की गईं जो नस्ली सीमाओं से पर्याप्त निकटता से मिलती थीं।

* * *

केन्द्रीय ताक़तों की पराजय के बाद ट्रांसकाकेशियाई गणराज्य बचे रह गये और पश्चिमी ताक़तों ने उन्हें 'तथ्येन मान्यता' प्रदान की। अर्मीनियाइयों को, वस्तुतः, बड़ी आशा थी कि वे अपने देश की सीमाओं को इतना अधिक बढ़ा लेंगे कि उसमें पूर्वी लघु एशिया (एशिया माइनर) तो आ ही जायगा और वह भू-मध्य सागर के उत्तर-पूर्वीतट तक भी पहुँच जायेगी। आज़रबाइजान तो आधार से ही निर्बल राज्य था, कारण यह था कि इसकी राजधानी में वे रूसी और अर्मीनियाई मजदूर बसे हुए थे और इसके पेट्रोल उद्योग का संचालन भी उन्हीं रूसी और अर्मीनियाई मजदूरों के हाथ में था जो स्वतन्त्र आज़र-बाइजान की अपेक्षा सोवियत रूस को अधिक चाहते थे। तीनों में सबसे अधिक नीरोग जार्जिया राज्य था—इसकी मेनशेविक सरकार को भारी लोकप्रिय समर्थन प्राप्त था। इसने एक छोटे सामाजिक जनतंत्री गणराज्य की स्थापना का श्रीगणेश कर दिया जिसकी प्रशंसा उन विरोधियों ने की जो अगले दो वर्षों में यहाँ आये।

परन्तु इन तीनों में से कोई भी गणराज्य नहीं बच पाया। इसका आंशिक कारण तो यह था कि वे आपस में लड़े और फिर इस कारण भी कि अपने उद्देश्य में वे पश्चिमी राष्ट्रों का पर्याप्त समर्थन प्राप्त करने में असफल रहे। परन्तु निर्णायक कारण तुर्की क्रान्ति की सफलता हुआ। जब कमाल अता तुर्क ने यूरोपीयन विजेताओं का अनादर एवं विरोध किया तो उसका एकमात्र मित्र सोवियत रूस था। ट्रांसकाकेशियाई राज्य स्वतंत्र तभी रह सकते थे जब कि तुर्की और रूस आपस में विरोधी होते और एक परमुखापेक्षी छोटे राज्य को दूसरे के विरुद्ध प्रयोग करना चाहता। परन्तु अब तो रूस और तुर्की दोनों पश्चिम के शत्रु होने के नाते आपस में मिले हुए थे। तुर्कों का दृढ़ निश्चय था कि अपने अर्मीनियाई प्रान्तों को अपने अधिकार में बनाये रखे, इससे उनको

रोकने में रूस का कोई स्वार्थ नहीं था ! बोल्शेविकों का दृढ़ निश्चय था कि बाकू का तेल उनके हाथ में आ जाय और बाकू के श्रमिक वर्ग की वे सहायता करते रहें; और कमाल अता तुर्क का इस बात में कोई स्वार्थ नहीं था कि अज़ेरी तुर्कों को रूसी पराधीनता से बचाये रखे।

अप्रैल १९२० में लाल सेना ने आज़र बाइजान पर आक्रमण कर दिया, सेना की इस कार्रवाई के साथ ही साथ बाकू में बोल्शेविकों ने विद्रोह कर दिया। नवम्बर १९२० में अर्मीनिया के पुच्छ भाग से गणराज्य को, उस प्रदेश को जो पहले रूसी साम्राज्य का अंग रह चुका था, भी इसी प्रकार ले लिया गया। ऐसा सम्भव प्रतीत हुआ कि शायद जार्जिया बच जायगा। मई १९२० में बोल्शेविक सरकार ने इसके साथ सन्धि कर भी ली थी। परन्तु इस पर भी यह छोटा राज्य नहीं बच पाया। फरवरी १९२१ में लाल सेना ने इस पर हमला कर दिया। यह कार्रवाई सारी स्तालिन की करतूत थी—उसके मन में जार्जियाई मेनशेविकों के विरुद्ध वैयक्तिक शत्रुताएँ बद्धमूल थीं। लेनिन इस बात से प्रसन्न नहीं था और उसने समझौते की नीति बरतने का आग्रह किया। तथापि वस्तुतः हुआ यह कि विरोध को निर्दयता से कुचल दिया गया।

१९१७-१९२० की गड़बड़ ने काकेशस की छोटी-छोटी पहाड़ी जनताओं को स्वतंत्र होने का अवसर दे दिया—इन लोगों ने रूस द्वारा अपनी पराजयों को हृदय से कभी स्वीकार नहीं किया था। परन्तु वे इतनी छोटी थीं, इतनी पंचमेल और इतनी पिछड़ी हुई थीं कि उन्हें सफलता की कोई आशा नहीं थी। वे कई बार रूसी श्वेतों और रूसी लालों—दोनों से लड़ चुकी थीं और दोनों ने ही उनसे क्रूर व्यवहार किया था। १९२० के अन्त में बोल्शेविक सत्ता थोड़ी बहुत फिर से स्थापित हो गई। नियंत्रण तो साम्यवादी दल के सदस्यों का रहा परन्तु जनवरी १९२१ में दाग़िस्तान स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणतन्त्र और (तेरेक क्षेत्र के निवासियों से मिलकर बने) पार्वत्य-स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणतंत्र की रचना के कारण इसकी बाहरी रूपरेखा स्वायत्त शासन की-सी हो गई थी।

* * *

श्वेतों की पराजय के कारण तातार तथा बाशकीर भूमियों की व्यवस्था का अधिक स्थायी बन जाना सम्भव हो गया। नवम्बर १९१८ में मुस्लिम साम्यवादियों के पृथक् रूसा दल को पहले ही भंग कर दिया गया था : इसके स्थान

पर रूसी साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के अधीन मुस्लिम संस्थाओं का एक रूसी साम्यवादी दलीय केन्द्रीय कार्यालय स्थापित था। तातार-बाशकीर गणराज्य बनाने का विचार छोड़ देने का और एक पृथक् तातार स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्य बनाने का निश्चय कर लिया गया। सितम्बर १९२० में यह बना दिया गया। बाशकीरिया में वालीदोव के नेतृत्व में कार्यरत बाश्-रेवकोंमे (बाश्कीरियाई क्रांतिकारी कमेटी) का बोल्शेविक नेताओं से संघर्ष छिड़ गया—इन नेताओं ने १९१९ में स्वायत्त शासन के दिये गये अपने वचन का अर्थ, अपने निजी अर्थ में, रूसी साम्यवादी दल की पूर्ण आधीनता लगाया। १९२० की गर्मियों में रूसियों के विरुद्ध राष्ट्रीय बाशकीर विद्रोह खड़ा हो गया और लाल सेना ने सैन्य शक्ति से इसका दमन कर देश पर कब्जा कर लिया। १९२०-के अन्त में स्थापित बाशकीर स्वा० सो० स० ग० की स्थापना हुई, यह रूसी साम्यवादियों के नियंत्रण में रहा। १९२० और १९२१ में वोल्गा घाटी की छोटी-छोटी जनताओं, चुवाश, मारी और वोत्याकों के लिये भी पृथक् स्वायत्त गणतंत्र अथवा स्वायत्त प्रदेशों का निर्माण किया गया। इस प्रकार तातार-प्रभुता-सम्पन्न वोल्गा-उराल राज्य का सपना पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया।

तुर्कस्तान में ताशकन्द के अधिकारियों का मुस्लिम प्रतिरोध छापामार आंदोलन (**"बेसमाची"**) के रूप में चलता रहा। १९२२ के अन्त तक इसका दमन नहीं किया जा सका—कुछ प्रतिरोध तो इसके भी बाद तक चालू रहा। बोल्शेविकों ने भी १९२० में खीवा और बुखारा संरक्षित राज्यों पर आक्रमण किया, इनमें से बुखारा १९१८ में ताशकन्द के आक्रमण को रोकने में सफल हो चुका था। विजित प्रदेशों को ख्वारेज़्म और बुखारा के सोवियत जनता गणतन्त्र बना दिया गया। इस नये नाम का प्रयोजन यह दिखाना था कि प्रशासन 'समाजवादी' नहीं है, कारण कि समाजवादियों का इस पर नियंत्रण नहीं था। प्रशासन में नाममात्र को वामपक्षी आधुनिकतावादी मुस्लिमों (जदीदीनवीनतावादी) और साम्यवादियों का हिस्सा था। सोवियत सरकार ने दोनों गणतन्त्रों के साथ हुए सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किये इसमें उनकी प्रभुसत्ता को स्वीकार किया और सोवियत रूस के लिए केवल कुछ आर्थिक विशेषाधिकारों की ही माँग की। परन्तु व्यवहार में स्थानीय साम्यवादियों के माध्यम से मास्को का दबाव बढ़ता गया और १९२४ में दोनों गणतन्त्र तोड़ दिये गये और उनके प्रदेश को सोवियत मध्य एशिया के गणराज्यों में बाँट

दिया गया।

* * *

मंगोलिया में अपना प्रमुख प्रभाव बनाये रखने की शाही रूस की नीति को सोवियत सरकार ने बनाये रखा—बल्कि यह इस बात में और आगे बढ़ गई। मंगोलिया को वस्तुतः साम्यवादी-शासित सोवियत संघ का पिछलग्गू राज्य बना लिया गया।

१९१९ में सोवियत सरकार ने उन विशेषाधिकारों को छोड़ देने की घोषणा की कि जो मंगोलिया में शाही रूसी सरकार को मिले हुए थे। अक्तूबर १९१९ में चीनी सरकार ने जनरल सु-शे-त्सुंग को मंगोलिया में चीनी सत्ता को पुनः स्थापित करने के लिये भेजा। फरवरी १९२१ में बैरन-अन्गर्न-स्टर्न वर्ग नाम के एक पहले के शाही रूसी अफ़सर ने मंगोलिया में प्रवेश किया—इसके साथ अपनी निजी सेना थी जिसमें कुछ रूसी, कुछ तुंगुस थे तथा कुछ जापानी अफ़सर और जापानी धन की सहायता भी साथ में थी। मंगोलिया में चीनी शासन से मुक्तिदाता के रूप में इसका स्वागत हुआ। इसी बीच सुखे बातोर और चोईबल्सान के नेतृत्व में कुछ वामपक्षी मंगोलियाई क्रांतिकारियों ने, १९२० के आरम्भ से १९२२ के अन्त तक वस्तुतः बोल्शेविक नियन्त्रणाधीन, परन्तु मनगढन्त रूप से मध्यवर्ती राज्य के रूप में बनाकर रखे हुए सुदूरपूर्वी गणतन्त्र के प्रदेश में आश्रय ले लिया था; इस सुदूरपूर्वी गणतन्त्र की राजधानी इर्कूत्स्क थी। मंगोल प्रवासियों ने मार्च १९२१ में मंगोलिया की सीमा के समीपस्थ क्याख्ता स्थान पर एक सम्मेलन किया और मंगोलियन क्रांतिकारी जनता-'दल' की स्थापना की, एक 'जनता सरकार' का निर्माण किया और लाल सेना की सहायता की माँग की। मई में अन्गर्न-स्टर्नवर्ग ने रूसी प्रदेश पर हमला किया परन्तु वह हार गया, पकड़ा गया और गोली से उड़ा दिया गया। लाल सेना मंगोलिया में बढ़ गई, इसकी राजधानी उर्गा में ६ जुलाई के दिन प्रविष्ट हो गई और लामा बोडो को प्रधान मन्त्री तथा सुखे बातोर को युद्ध मन्त्री बनाकर एक सरकार की स्थापना कर दी। नवम्बर १९२१ में सोवियत रूस और मंगोलियाई जनता—गणतन्त्र के मध्य मित्रता की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। मंगोलिया से पश्चिम ओर के प्रदेश को १९२२ में "तानु-तुवा जनता गणराज्य" बना दिया गया और इसको यद्यपि रूस में मिलाया तो नहीं गया पर यह इसका संरक्षित राज्य बन गया।

प्रायः सभी मंगोलों के लिए चीनी परम्पराप्राप्त शत्रु थे और उनका रूसियों

की ओर [illegible] था । इस कारण पहले पहल नये शासन को न केवल नन्हे से वामपक्षी क्रान्तिकारी वौद्ध वर्ग ने ही स्वीकार किया अपितु अधिक अनुदार शक्तियों ने भी इसे स्वीकार किया । परन्तु सोवियत साम्यवादी इस बात के लिये तय्यार नहीं थे कि इस बौद्ध लामाओं द्वारा शासित रूढ़िवादी धर्मतन्त्र राज्य में सब कुछ वैसे ही रहने दिया जाय । १९२१ के आरम्भ में उन्होंने भूमि पुनर्वितरण के, वनों और खानों के राष्ट्रीयकरण के और बौद्ध प्रभाव विरोधी शिक्षा सुधार के कार्यक्रम को प्रस्तुत करना शुरू किया और अभिजात वर्ग तथा लामाओं के विरुद्ध गृह युद्ध करने के लिये लोगों को भड़काने की भरसक चेष्टा की, अप्रैल १९२२ में प्रधान मन्त्री बोडो तथा दूसरे मंगोल राजनीतिज्ञों को बन्दी बना लिया गया, उन पर चीन के साथ मिलकर षड्यन्त्र करने का अभियोग लगाया गया और फाँसी दे दी गई । उसका उत्तराधिकारी दान्जेन, जो १९२३ में सुखेवाततोर की मृत्यु पर सेना का प्रधान सेनापति भी बना, क्रान्तिकारी था, पर साथ ही मंगोल देशभक्त भी था; वह चाहता था कि उसका देश स्वतन्त्र रहे; उसने यह आशा लगाई हुई थी किसी दिन संयुक्त मंगोलिया में वे प्रदेश भी सम्मिलित कर लिये जाएंगे जो रूस अथवा चीन में रह गये थे । मई १९२४ में उसका तख्ता पलट दिया गया और उसको फाँसी दे दी गई । अगले चार वर्षों में सोवियत रूसी प्रभाव अत्यन्त प्रबल रहा परन्तु अभी तक मंगोलिया को विदेशों से आर्थिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध किसी सीमा तक बनाये रखने की अनुमति मिली हुई थी । बौद्ध मठों ने भी अपनी जायदादों और अपने निजी संगठन को बनाये रखा ।

इस प्रकार हमने देखा कि बीसवीं सदी की तीसरी दशी के आरम्भिक वर्षों तक सोवियत राज्य की सीमाएँ स्थिर हो गई थीं । पश्चिम में प्रदेश छिन गये थे परन्तु सुदूरपूर्व में नियन्त्रण का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया था । निर्णायक घटक न तो विचारात्मक सिद्धान्त ही होते थे और न ही 'जनता की अभिलाषा' परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति निर्णायक घटक रहती थी । बाल्टिक राज्य और फिनलैंड इसलिये बच गये कि ब्रिटेन बाल्टिक समुद्र पर हावी हो सकता था । पोलैंड और रूमानिया को उक्रइनी और श्वेत रूसी प्रजाओं वाले साथ के प्रदेश इसलिये मिल गये कि दोनों की पीठ पर फ्रांस की सैन्य शक्ति थी । ट्रान्सकाकेशियाई राज्य इसलिये नष्ट हो गये कि उनके पृष्ठ भाग पर तुर्की राज्य था जो उदासीन अथवा शत्रु था । विदेशी शक्ति जहाँ-कहीं नहीं पहुँच सकती थी, वहीं बोल्शेविकों ने जार के नाम पर नहीं, अपितु श्रमिकवर्ग के नाम पर रूस की शक्ति

की पुनः स्थापना की। रूसी साम्राज्य बना रहा परन्तु इसका शासन अब बिल्कुल भिन्न सिद्धान्तों पर हो रहा था—इसने रूसियों तथा गैर-रूसियों दोनों के जीवनक्रम को समानरूप से आमूल बदल डाला।

सोवियत साम्राज्य

गृह-युद्ध में साम्यवादियों की विजय के पश्चात् बीते इन पिछले चालीस वर्षों में सोवियत सरकार ने सोवियत संघ की आधी से कुछ कम आबादी की घटक गैर-रूसी जातियों के साथ जो व्यवहार किया है वह विविध प्रकार का रहा है। ये विविधताएँ समग्र सोवियत-सरकारी नीति की प्रमुख सामान्य अवस्थाओं के अनुकूल रही हैं। १६२१ से १६२२ तक के नई आर्थिक नीति (न्यू इकोनॉमिक पालिसी NEP='नेप') के वर्षों में उत्पीड़न व्यापक रूप से शिथिल रहा : इसके कारण सभी सोवियत नागरिकों के लिए जीवन अधिक सह्य हो गया था : परन्तु राष्ट्रजातियों (सोवियत परिभाषा में गैर-रूसी जातियों का नाम 'नैशननैलिटी'=राष्ट्रजाति रखा गया है।) को इससे विशेष लाभ पहुँचा। १६२८ से १६३३ के प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के तथा कृषि-सामूहिकीकरण के दिनों में राष्ट्रजातियों को भी, रूसियों की भाँति, भयानक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। फिर दो वर्ष तक जरा कुछ नरम अवस्थाएँ रहीं और इसके बाद १६३६ से १६३८ तक के "व्यापक छँटनी" (ग्रेट पर्ज) के काल में राष्ट्रजातियों को विशेष चोटें झेलनी पड़ीं। १६३६ और १६४० में सोवियत संघ ने यूरोप के बड़े-बड़े प्रदेशों पर बलात् कब्ज़ा कर लिया और इस प्रकार लगभग दो करोड़ अतिरिक्त लोगों को साम्यवादी शासन के आधीन बनाया। १६४१ से १६४५ तक विश्वयुद्ध रहा, फिर युद्ध पश्चात् का पुनर्निर्माण का काल आया और १६४५ से १६५२ तक स्तालिन के जीवन के अन्तिम वर्ष रहे—इस सारी अवधि में जो यातनाएँ दी गईं उनका राष्ट्र जातियों पर विविध रूप से विशेष प्रभाव पड़ा। अन्त में, स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् के इन वर्षों में, अपने रूसी नागरिकों की भाँति राष्ट्रजातियों का भाग्य भी पर्याप्त सुधर गया है। सोवियत साम्राज्यशाही शासन के प्रमुख पक्षों का विश्लेषण करने से पहले, इन विभिन्न अवस्थाओं पर, राष्ट्रजातियों के दृष्टिकोण से विचार करना होगा।

'नेप' अवधि का सारतत्त्व यह रहा कि इस अवधि में 'साम्यवादी दल को

निरपेक्ष (निरंकुश) सत्तावाद रहे; इस सिद्धान्त पर तो कोई समझौता नहीं किया गया, परन्तु सुदूरव्यापी प्रभाव उत्पन्न करने वाली सांस्कृतिक तथा आर्थिक रियायतें अवश्य प्रदान की गईं; जैसे खास रूस में, वैसे ही गैर-रूसी क्षेत्रों में भी, मास्को सरकार के स्वच्छन्द निर्णय अत्यन्त केन्द्रीकृत दलीय मैशीन के निम्नतर स्तरों के माध्यम से नीचे की ओर भेजे जाते थे। (स्थानीय सरकार के नाममात्र के प्रतिनिधि—माध्यमों) स्थानीय सोवियतों, ट्रेड यूनियनों, सहकारी समितियों, फैक्टरी-व्यवस्थाओं, युवक आन्दोलन तथा दूसरी 'सार्वजनिक संस्थाओं' का नियन्त्रण दल के उन सदस्यों के माध्यम से होता था जो उन संस्थाओं के पदाधिकारी होते थे।

परन्तु राजनीतिक सत्ता के इस दुष्परिवर्तनशील ढाँचे के भीतर रहते हुए गैर-रूसियों को जो सांस्कृतिक लाभ मिले थे, वे उन्हें शाही शासन के अन्तर्गत रहते कभी उपलब्ध नहीं हुए थे। इस समय की सरकारी मान्यता के अनुसार दो 'पथभ्रष्टताओं' में अन्तर था : ये दोनों ही एक समान हानिकारक थीं और साम्यवादियों के लिये उन दोनों से ही बचे रहना आवश्यक था। इनमें से एक का नाम "महान् रूसी अन्धराष्ट्रवाद" (अतिराष्ट्रीयता—'ग्रेट रशियन ग्रेट पावर शोविनिज़्म) और दूसरी का नाम 'स्थानीय बुर्जुआ राष्ट्रीयतावाद' था। सोवियत संघ की सभी क़ौमों के साम्यवादियों का कर्त्तव्य 'उनके अपने बुर्जुआवर्ग' से संघर्ष करना था। रूसी साम्यवादियों को इस बात का दृढ़ता से समर्थन करना था कि ग़ैर-रूसियों को भी रूसियों के समान अधिकार हैं, विशेषकर, सार्वजनिक रूप से तथा निजी रूप से, बातचीत में तथा लिखने में अपनी निजी भाषा के प्रयोग के और अपने क्षेत्र के प्रशासन में उत्तरदायी पद प्राप्त करने के अधिकार हैं। राष्ट्र-जातियों के साम्यवादियों का यह कर्त्तव्य है कि वे रूसी जनता से एकता का समर्थन करें, रूस से सम्बन्ध-विच्छेद के विचारमात्र का विरोध करें और अपने मध्य बसे हुए रूसी अल्पसंख्यकों के विरुद्ध सब प्रकार के भेदभाव को रोकें।

सोवियत संघ की कौमों में से रूसी, शायद जार्जियाई और आर्मीनियाइयों को छोड़कर, सबसे अधिक शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक समुन्नत थे। इस प्रकार यह तो अनिवार्य ही था कि प्रशासन संयत्र और दलीय संयत्र में रूसी अधिक संख्या में होते। इसलिये व्यवहार में यह और अधिक सम्भावना होती ही कि 'महान् रूसी अन्ध राष्ट्रवाद की पथभ्रष्टता' अपना प्रभाव दिखाती। इसलिये मास्को सरकार ने १९२० से १९२९ की अवधि में स्था-

नीय राष्ट्रयतावाद पर हमला करने की अपेक्षा इस अन्धराष्ट्रवाद का विरोध करने का अधिक प्रयत्न किया। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसके प्रयत्न सदा सार्थक ही रहे। विभिन्न क्षेत्रों में इसका प्रयोग कुछ-कुछ भेद से किया गया।

उक्रइन में यह नीति सबसे अधिक कारगर हुई। उक्रइनी साम्यवादियों और मास्को नेताओं के संयुक्त प्रयत्नों से यह बात सुनिश्चित हो गई कि उक्रइनी शाही युग के रूसीकरण से मुक्त हो गये हैं। सार्वजनिक करोबार में तथा स्कूलों में शिक्षा के माध्यम के रूप में उक्रइनी भाषा का प्रयोग हुआ। उक्रइनी साहित्य तथा विद्वत्तापूर्ण प्रकाशन खूब फूलेफले। उक्रइनी उद्योगों में उक्रइनी मजदूरों की संख्या बढ़ती गई और जो उक्रइनी नगर पहले रूसी प्रभावों के गढ़ बने हुए थे। उनका अब उक्रइनीकरण हो गया। उक्रइनी बहुसंख्या की दृष्टि में इन लाभों ने राजनीतिक आज़ादी की शायद क्षतिपूर्ति कर दी थी।

शायद वोल्गा के तातारों को भी हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक रहा। वोल्गा-उराल राज्य बना लेने की उनकी आशाएँ तो भग्न हो चुकी थीं, परन्तु तातार स्वा. सो. स. ग. में जब स्थानीय तातारों के अपने क्षेत्र के रूसी साम्यवादियों से झगड़े हो जातेथे तो उनमें तातारों को प्रायः मास्को से समर्थन मिलता था। १५५२ में रूसियों द्वारा कज़ान विजय के पश्चात् से अब सार्वजनिक कारोबार में तातार भाषा का प्रयोग अधिक व्यापक रूपसे होता था। प्रमुख तातार नेता मिरजा सुल्तान गलियेव था—राष्ट्रजातियों की कमिस्सार परिषद् में मुस्लिम मामलों में स्तालिन के प्रमुख सलाहकार वाखितोव के क़त्ल हो जाने पर १९१८ में यह उसका उत्तराधिकारी बना था। यह जब "ज़दीद" आन्दोलन का सदस्य था तभी से उसका यह दृढ़ विश्वास चला आता था कि कज़ाकों और उज़्बेकों तथा तातारों, बाशकीरों और अज़ेरियों समेत सभी तुर्क लोगों की दृढ़ एकता होनी चाहिये। एशिया में उपनिवेशवाद विरोधी क्रांति का एक अधिक व्यापक चित्र उसके मानसपटल पर अंकित था। उसकी सम्मति में बोल्शेविक नेताओं द्वारा औद्योगिक यूरोप में क्रांति करने पर विशेष बल देना भूल थी; उन्हें तो एशिया पर, विशेषकर तुर्की, फारस, अफ़ग़ानिस्तान और भारत के मुस्लिम देशों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। कजान और तातार प्रान्तों में उसके शिष्य प्रबल थे। वे लोग जितने साम्यवादी थे उतने ही तातार देशभक्त भी थे। व्यवहार में वे साथी-मेहनतकशों के रूप में रूसी श्रमिकों से जितना भाईचारा बरतते थे, उससे कहीं अधिक भाईचारा तातार-साथियों

के रूप में तातार कृषकों अथवा छोटेव्यापारियों से (इन्हें 'नेप' कार्यक्रम में अपना धन्धा करने की अनुमति दे दी गई थी) बरतते थे।

तातारराष्ट्रीय 'साम्यवाद' का यह युग १६२३ में तब समाप्त हो गया जब यह पता लग गया कि सुल्तानगलियेव का, गैर-साम्यवादी क्रीमियाई, तातारी, बाशकीरी और मध्य एशियाई निर्वासित राजनीतिक नेताओं से गुप्त पत्र व्यवहार रहा है। उसको अपने पद से च्युत कर दिया गया और तातार स्वा. सो. स. ग. के भीतर रूसी साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ गया तथापि तातारी-सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद पर्याप्त प्रबल बना रहा।

ट्रांस्काकेशिया में स्थिति कम सन्तोषजनक रही। यह सच है कि यहाँ जार्जियाई, अर्मीनियाई और अजेरी भाषाओं को सरकारी प्रतिष्ठा दे दी गई थी, परन्तु आज़ारबाइज़ान में मजदूर वर्ग और साम्यवादी दल में अधिक संख्या में विद्यमान रूसी अल्पसंख्यक ही स्पष्ट रूप से देश के शासक बने हुए थे और जार्जियाई तथा अर्मीनियाई लोग, कारण कि वे लोग राजनीति में रुचि रखते थे और दुनियादार कौम में से थे, अपने ही साथी देशभक्तों द्वारा व्यवस्थापित भी एक विदेशी ढंग के प्रशासन के थोपे जाने पर बुरी तरह नाराज थे। अर्मीनिया पर सोवियत क़ब्जा हो जाने पर १६२१ में एक भारी सशस्त्र बग़ावत हुई और इसको बड़ी बर्बरता से कुचल दिया गया। जार्जिया में, अल्पसंख्यक जार्जियाई बोल्शेविकों तक का मास्को के अपने साथी देशभक्त जोसेफ़ स्तालिन की नीतियों से शीघ्र ही संघर्ष हो गया और उनके बहुत से नेताओं को उनके नये प्राप्त किये पदों से, पदच्युत कर दिया गया। अगस्त १६२४ में जार्जिया में प्रशासन के विरोध में एक बड़ा किसान-विद्रोह उठ खड़ा हुआ और इसका भी बड़ी क्रूरता से दमन किया गया।

* * *

मध्य एशिया में स्थिति यह थी कि दलीय उपकरण पर रूसी 'गरीब श्वेत' अन्धराष्ट्रीयतावादियों की जो पकड़ विद्यमान थी, उसको हटा लेने के मास्को सरकार के प्रयत्न, सच्ची लगन से किये जाने पर भी, केवल आंशिक रूप से ही सफल हुए। ऐसे एशियाइयों का मिल जाना बहुत कठिन था कि जो इतने शिक्षित भी होते कि प्रशासन में अथवा आर्थिक प्रबन्ध विभाग में प्रवीण होते और साथ ही अपने देश को रूसी शासन से मुक्त करने की 'बुर्जुआ राष्ट्रवादी' अभिलाषा से रहित होते। इसलिए रूसी ही मुख्य भूमिका अदा करते चले गये, परन्तु देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने की एक ऐसी पद्धति की नींव अवश्य

रख दी गई कि जिससे अन्त में एक एशियाई शिक्षित वर्ग बन जाता। इस बीच में जो सामाजिक सुधार कार्यान्वित किये गये वे ऐसे नहीं थे कि देशियों के लिये अवश्य ही रुचिकर अथवा उपयोगी होते। प्रगतिशील एशियाइयों द्वारा अभीष्ट नारी-उद्धार का रूढ़िवादी बहुसंख्या ने विरोध किया। इसको रूसी साम्यवादियों ने इतनी निष्ठुरता से कार्य में परिणत किया कि वैसी निष्ठुरता न तो शाही रूस और न ही कोई और पुरानी उपनिवेशी सरकार बरतती। भूमि के पुनर्वितरण का कार्यक्रम, जिसको सिद्धान्त रूप से किसानों ने चाहा था, इस ढंग से कार्यान्वित किया गया कि उससे अधिकतर, यूरोपीय रूस से आकर बसे (आप्रवासी) किसानों को ही लाभ पहुँचा। एशियाइयों की दृष्टि से तो ऐसा लगा कि मानो शाही रूस की नीति ही बरती जा रही हो; परन्तु शाही रूस ने तो मध्य एशिया में इस्लाम ही को सदा आदर दिया था। ताशकन्द के 'ग़रीब श्वेत' बोल्शेविकों के प्रभुत्व के वर्षों में इस्लाम पर बड़ी तत्परता से अत्याचार होते रहे थे। 'नेप' के वर्षों में सहिष्णुता अधिक बरती गई, यद्यपि धर्म के प्रति प्रशासन का विद्वेष कभी सन्दिग्ध नहीं रहा।

इन वर्षों में सोवियत नीति का एक महत्वपूर्ण पहलू सीमाओं की पुनर्व्यवस्था करना रहा है। उजबेक तथा तुर्कमान दो सोवियत गणराज्य और कज़ाख, किर्गिज और ताज़िक—तीन स्वा० सो० स० ग०—रूसी सोवियत संघीय समाजवादी गणराज्य के अन्तर्गत स्थापित किये गये। इस पुनर्व्यवस्था का प्रयोजन दिखाने को तो यह था कि सीमाएँ नस्ली विभागों के अनुकूल हो जायँ। परन्तु वस्तुतः यह सन्दिग्ध ही है कि ये अन्तर कितने ठीक-ठीक थे। तुर्कमानों, उज़बेकों और किर्गिज़ो की बोलियों में यद्यपि पर्याप्त अन्तर थे, तथापि ये परस्पर घनिष्ठ सम्बद्ध थीं और १९२१ में इन्हें शायद ही पृथक्-पृथक् बोलियाँ कहा जा सकता हो। उनका पृथक्-पृथक् राष्ट्रों में विभाजन तो और भी अधिक सन्देहास्पद था। ताजिकों तथा दूसरों में यह अन्तर था कि उनकी बोली तुर्की नहीं, ईरानी ढंग की थी, परन्तु यह सन्दिग्ध ही है कि उन्हें ईरानी राष्ट्र की एक शाखा न मान कर पृथक् राष्ट्र समझा जा सकता है या नहीं। सोवियत नीति का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि तुर्केस्तानी, तुर्की अथवा ईरानी राष्ट्रीयता अथवा संस्कृति की सर्वसामान्य भावना को सर्वथा नष्ट कर दिया जाय। रूसी नीति का उद्देश्य कई पृथक्-पृथक् राष्ट्रों (कौमों) का निर्माण कर देना था कि उन्हें एक दूसरे से अलग रखा जा सके, एक दूसरे से भिड़ाया जा सके और व्यक्तिशः रूसी राष्ट्र से जोड़ा जा सके। इस प्रकार केन्द्रीय

एशियाई मुस्लिमों के किसी संयुक्त मोर्चे के संकट को दूर रखा जा सके निस्सन्देह 'फूट डालो और शासन करो' की यह नीति साम्यवादियों का आविष्कार नहीं था। यूरोप तथा एशिया दोनों में प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों साम्राज्य इसको व्यवहार में लाते रहे थे।

* * *

१९३० से १९३९ तक क अवधि में कृषि के सामूहिकीकरण और भारी उद्योगों के वाधित विकास के कारण सोवियत संघ के सभी नागरिकों पर भयानक बोझ आ पड़ा। उक्रइन तथा कज़ाख स्तेपियो में यह विशेष कठोर रहा। उक्रइनी किसानों में वह ग्राम-कम्यून पद्धति विल्कुल नहीं थी जो रूसी किसानों में बड़ी प्रबल थी—ये लोग अपनी छोटी जोतों को अपने अधीन बनाये रखने का दृढ़ निश्चय किये हुये थे। कई मामलों में तो सामूहिकीकरण को लागू करने के लिये और मास्को स्थित योजना-अधिकारियों द्वारा निर्धारित अन्न-अदायगियों को वसूल करने के लिये लाल सेना की टुकड़ियाँ भेजनी पड़ीं। बड़े-बड़े इलाके बिन बोये रह गये और हज़ारों पशुओं का वध कर दिया गया। १९३२ और १९३३ में फसलों में चिन्ताजनक कमी आई और १९३३ में सरकार न तो अपने समर्पण-नियतांशों में कमी करने को तय्यार हुई और न राज्य धान्यागारों से उसने अन्न हा प्रदान किया। परिणाम यह हुआ कि उक्रइन तथा कुबान प्रदेशों में अकाल पड़ गया जिससे कई लाख किसान मर गये। कज़ाख स्तेपियों में अधिकारियों ने मनमाने ढंग से उस घुमन्तू जीवन को बन्द करना चाहा जो इस प्रदेश अति प्राचीन काल से चला आ रहा था, और उन्होंने कज़ाखों को बाधित करके उन्हें स्थायी-कृषि-बन्दोवस्त में बांधने का यत्न किया। परिणाम हुआ पशुओं का सामूहिक विध्वंस और अकाल। सारी कज़ाख आबादी का लगभग एक-तिहाई भाग नष्ट हो गया। पशुओं की हानि मध्य एशिया में भी असाधारण रूप से बहुत अधिक हुई। तुर्कमानिया में १९२९ में जितने पशु थे, १९३३ में वे केवल $\frac{1}{5}$ से ही अधिक रह गये। किर्गिजिया में १९२७-२८ में जितनी भेड़-बकरियाँ थीं १९३४ में उनकी एक-चौथाई कम रह गईं।

आर्थिक संकट से उत्पन्न कटुता ने, स्वभावतः ही, रूसी-विरोधी-राष्ट्रीयतःवाद को प्रोत्साहित किया और सोवियत सरकार राष्ट्र-जातियों के प्रति और भी अधिक शङ्काशील हो गई। गणराज्यों के साम्यवादी दलों में भारी छँटनी कर दी गई। उक्रइन का मामला सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा। १९३० में गैर-

साम्यवादी बौद्धिकों के एक समूह पर उक्रइन मुक्ति संघ को गुप्त रूप से संगठित करने के आरोप में एक अभियोग खारकोव में चलाया गया। १९३३ में उक्रइनी शिक्षा कमिस्सार एन०ए० स्क्राइपिक ने आत्महत्या कर ली—यह पिछली दशी में 'उक्रइनीकरण' का सबसे अधिक सक्रिय योद्धा रहा था और इसने उक्रइनी साहित्य, कला तथा विज्ञान की बड़ी प्रबलता से रक्षा की थी। इसकी मृत्यु के बाद सत्ता स्तालिन की नीतियों के विश्वस्ततम भाष्यकारों के हाथ में चली गई। १९३३ में उक्रइन दल के आधे से अधिक पदाधिकारियों को बदला गया। तातारी स्वा०सो०स०ग० में भी छँटनी हुई। १९२३ में उसका निरादर कर दिये जाने के बाद सुल्तान गालिएव को एक निजी नागरिक के रूप में आजीविका अर्जन करने की अनुमति दे दी गई थी। १९२९ में उसे गिरफ्तार कर लिया गया और लुप्त कर दिया गया। जिन तातार साम्यवादियों अथवा पदाधिकार पर 'सुल्तान गालियेववादी' अर्थात् तातारी देशभक्त अथवा सर्व-तुर्कीवादी होने का सन्देह हुआ उन्हें अपने पदों से हटा दिया गया और कइयों को गिरफ्तार भी कर लिया गया।

* * *

१९३६-३९ की व्यापक छँटनी में हजारों चोटी के गैर-रूसी साम्यवादियों का सफाया हो गया। उक्रइन में गणराज्यीय पोलित ब्यूरो और गणराज्यीय जनता कमिस्सार की कौंसिल के सभी सदस्य तथा गणराज्यीय केन्द्रीय समिति के ८० प्रतिशत सदस्य सार्वजनिक जीवन से लुप्त हो गये। श्वेत रूस में, तीनों ट्रांसकाकेशियन गणराज्यों में और तातारी, दागिस्तानी, पार्वत्यों के और बुरायत मंगोल छोटे-छोटे स्वा० सो० स० गणराज्यों में प्रबल शोधक छँटनियाँ कर दी गईं। मध्य एशिया में उत्पन्न साम्यवादियों की संख्या पहले ही थोड़ी थी, उसे और घटा दिया गया। इनमें से सुपरिचित उज्बेक गणराज्य के क्रमशः प्रधानमन्त्री और साम्यवादी दल का प्रथम सचिव, फैजुल्ला हौज़ेव और अकबल इकरामोव भी मार्च १९३८ की दिखावटी विचारणा में उपस्थित थे; उनको प्रमुख प्रतिवादी बुखारिन था—परन्तु उन दोनों को गोली से उड़ा दिया गया। छँटनियों के कुछ कम महत्वपूर्ण शिकारों में से बहुत-सों को फाँसी दे दी गई अथवा उत्पीड़न के परिणामस्वरूप मर गये, बहुसंख्यक तो उत्तर तथा पूर्व के बन्दी शिविरों में लुप्त हो गये, कुछ १९५० की दशी में अभी तक जीवित प्रकट हो गये।

'व्यापक छँटनी' का ज़ोर अभी खत्म हुआ ही था कि यूरोप में दूसरा विश्व-

युद्ध आरम्भ हो गया। इससे स्तालिन को अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार कर लेने का अवसर मिल गया। सोवियत संघ और नाजी जर्मन राज्य के मध्य हुए पोलैंड के पाँचवें विभाजन द्वारा सोवियत संघ को पोलैंड का आधा पूर्वी भाग मिला जिसकी आबादी उक्रइनियों और श्वेत रूसियों की थी, यद्यपि उसमें कई लाख पोल भी रहते थे। स्तालिन और हिटलर के समझौते के अनुसार यह मान लिया गया था कि बाल्टिक राज्य और फिनलैंड सोवियत प्रभाव क्षेत्र में स्थित हैं। १९३९-१९४० की सर्दियों में सोवियत संघ ने फिनलैंड से लड़ाई छेड़ दी और फिनलैंड लेनिन ग्राड के समीप फिनलैंड की खाड़ी पर स्थित वीबोर्ग जिले को तथा आर्क्टिक तट पर स्थित पेत्सामो जिले को छोड़ने को विवश हो गया। तीनों बाल्टिक राज्यों को पहले केवल इस बात के लिये बाध्य किया गया कि वे किन्हीं सामरिक महत्व के नाकों पर लाल सेना को मोर्चे स्थापित करने दें। परन्तु जून १९४० में सोवियत नेता ने उन्हें अपने राज्य में मिला लेने का निश्चय कर लिया। लाल सेना ने क़ब्ज़ा कर लिया, साम्यवादी नियंत्रण में कठपुतली सरकारें स्थापित कर ली गई और विरोधी उम्मीदवारों के अभाव में "चुनावों" का समारोह कर लेने के बाद 'संसदों' ने सोवियत संघ से अपने देशों को सोवियत संघ में मिला लेने का औपचारिक अनुरोध किया। वे विधिपूर्वक लिथुआनियाई, लातवियाई और एस्तोनियाई सोवियत सामाजिक गणराज्य बन गये। आगे के महीनों में लाखों नागरिकों, विशेषकर प्रोटेस्टैंट पादरियों और स्वतन्त्र धन्धा करने वालों को रूस के भीतरी भाग में निर्वासित कर दिया गया। जून १९४० के अन्त में सोवियत संघ ने रूमानिया से बेसाराबिया को लेकर अपने राज्य में मिला लिया और इस प्रकार इसने अपने उस उद्देश्य की पूर्ति कर ली जिसे इसने कभी औपचारिक रूप से छोड़ा नहीं था। इसने बुकोविना के उत्तरी भाग को भी ले लिया—यह कभी रूसी साम्राज्य का हुआ तो नहीं था, परन्तु इसकी आबादी अधिक संख्या में उक्रइनी थी। इस प्रकार सब उक्रइनियों और सभी श्वेत रूसियों को अब सोवियत सीमाओं के भीतर ले लिया गया था। राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण से यह एक लब्धि थी परन्तु फिर भी संदिग्ध ही है कि नागरिक अब जिस प्रकार की सरकार के आधीन हुए, उसने उनको बहुत प्रसन्नता प्रदान की या नहीं। सोवियत दृष्टिकोण से इस संयोजन का एक बड़ा गुण यह था कि उक्रइनी अथवा रूसी आबादी वाले किसी विदेशी प्रदेश से सोवियत संघ के विरुद्ध उक्रइनी अथवा श्वेत रूसी राष्ट्रीय आन्दलनों के चलाये जाने की सम्भावना मिट गई।

जून १९४१ में हिटलर की राइख़ से जो लड़ाई शुरू हुई उसका आंशिक कारण—कृष्णसागर जल-संधि में और अधिक प्रादेशिक लब्धियों के लिये तथा बल्गारिया में और अधिक प्रभाव 'क्षेत्र बना लेने के लिये प्रयत्न करना था। हिटलर ने (आगे चलकर) किसी समय रूस पर आक्रमण करने का निश्चय तो किया हुआ ही था, परन्तु १९४०-४१ की राजनमिक वार्ताओं में स्तालिन तथा मोलोतोव का जो निर्लज्ज विशाल लालच प्रकट हुआ उसने हिट-लर की योजना की रफ़्तार बढ़ा दी।

युद्ध की अवधि में सोवियत सरकार का गैर रूसियों में अविश्वास और बढ़ गया। स्तालिन ने इस समस्या का यह समाधान सोचा कि सारी की सारी कौमों को ही उनकी मातृभूमियों से निर्वासित कर दिया जाय और साइबेरिया तथा मध्य एशिया की यात्रा से बच रहों को "नये सिरे से बसा दिया जाय।" पहले शिकार वोल्गा के ४ लाख वे जर्मन हुए जो वहाँ अठारहवीं सदी के मध्य से बसे हुए थे और जिन्होंने १९२४ से एक स्वायत्त सो. स. गणराज्य बना रखा था। १९४४ में क्रीमियाई तातारों, कैस्पियन स्तेपियों के काल्माइकों और काकेशस की चार कौमों—चेचेनों, इंगुशों, बाल्कारों और काराचयों का भी यही भाग्य हुआ। इन सब समूहों में मिलाकर लगभग १५ लाख व्यक्ति होंगे। आँखों-देखे हाल के आधार पर कहा जा सकता है कि चेचेनों में से तो सुरक्षा पुलिस द्वारा घेरे जाने के समय ही बहुत से व्यक्ति मारे गये और शायद रूस की कड़ाके की सर्दी में उनके निर्वासन के मार्ग में और बहुत से मर गये होंगे। १९४४ के इन निर्वासनों के कारण ये बताये गये कि इन लोगों ने सोवियत युद्ध-उद्योगों में पर्याप्त सहायता नहीं दी, यह कि इनमें से कइयों ने बढ़ती जर्मन सेनाओं को मदद दी थी, और इनमें से बहुसंख्यकों ने 'सोवियत-संघ के इन द्रोहियों' की निन्दा नहीं की अथवा दण्ड नहीं दिया था। यह तो सन्दिग्ध ही है कि जर्मनों को उनसे कोई खास मदद मिली या नहीं, परन्तु यह निश्चत है कि काकेशिया के पहाड़ी लोगों ने सोवियत शासन से कभी सन्तोष नहीं माना और शायद इन्होंने अनुभव किया हो कि युद्ध के समय सशस्त्र विद्रोह द्वारा स्वतन्त्र होने का अवसर है।

सोवियत साम्यवादी यों तो 'साम्राज्यवाद'-विरोधी राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलनों के समर्थक कहलाने से नहीं थकते, परन्तु यहाँ उन्होंने काकेशियाई लोगों के राष्ट्रवाद को अपराध ठहराया। बर्मा में, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय, आबादी

के कुछ अल्पसंख्यक लोगों ने आक्रान्ता जापानियों को सक्रिय सहायता दी और बहुसंख्यक बर्मियों ने तो निश्चय ही उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की। अंग्रेज़ जब १९४५ में बर्मा लौटे तब यदि वे 'साम्राज्यवाद-विरोधी' सोवियत सरकार के पदचिन्हों पर चले होते तो वे न केवल उन लोगों को फाँसी दे देते जिन्होंने बर्मी राष्ट्रीय सेना में नौकरी की थी अपितु समस्त बर्मी आबादी को ही आर्कटिक कैनाडा में निर्वासित कर देते।

१९४४-१९४५ में लाल सेना ने जर्मनों को वापस बर्लिन में खदेड़ दिया। पीछे से हुए शान्ति-समझौते के अनुसार फिनलैंड, पोलैंड और रूमानिया के उन भागों में फिर से सोवियत शासन स्थापित कर दिये गये जिन पर १९३९-१९४० में कब्ज़ा किया गया था और बाल्टिक राज्यों को फिर अपने राज्य में मिला लिया गया। सोवियत संघ ने ट्रान्सकारपेथियाई रुथेनिया को भी ले लिया—यह उक्रइनी आबादी का एक वह प्रान्त था जो मध्य युग से लेकर १९१८ तक हंगरी का हिस्सा रहा आया था; १९१८ में चेकोस्लोवाकिया में चला गया और १९३९ में फिर हंगरी में लौट आया था। सोवियत संघ ने पूर्वी प्रशा के अर्धभाग को भी जर्मनी की प्राचीन राजधानी—कोनिग्सबर्ग (जिसका पुनर्नामकरण कालीनिनग्राद किया गया)—समेत, कब्ज़े में ले लिया। सुदूरपूर्व में सोवियत संघ ने, १९०५ में रूसी साम्राज्य द्वारा जापान को सौंपे गये साखालीन को और १८७५ में रूस द्वारा जापानके माने हुए कुरील द्वीप-समूह को अपने अधिकार में ले लिया। १९४४ में तानुतुवा के जनता गणराज्य को औपचारिक रूप से सोवियत संघ का अंग बना लिया गया।

इस प्रकार हमने देखा कि युद्ध के परिणामस्वरूप प्रादेशिक लाभ उठाने वाला एकमात्र राष्ट्रसोवियत संघ ही रहा। युद्ध-पश्चात् के वर्षों में यूरोपीय बड़े राष्ट्रों और संयुक्त राज्य अमरीका ने अरबों उपनिवेशी प्रजाओं को स्वतंत्रता प्रदान कर दी, परन्तु सोवियत संघ ने अपनी सब विजयों को अपने पास ही रखा।

* * *

युद्ध-पश्चात् के वर्षों में सोवियत नेताओं ने ऐसा प्रकट किया कि मानो वे साम्यवादी प्रशासन की जड़ें खोखली करने वाले बाहरी प्रभावों से विशेष भयभीत हों। गैर-रूसियों में विद्यमान 'बुर्जुआ राष्ट्रीयता' पर तो वे बहुत ही शंका करते थे। उक्रइन तथा उन एशियाई गणराज्यों के प्रमुख कर्मचारी वर्ग में, जिन पर कि राष्ट्रीयता का आरोप लगाया गया था, बहुत से परिवर्तन कर

दिये गये। सरकारी मत के अनुसार दो बड़े अपराध थे—राष्ट्रीयता और सर्व-देशीयता; तथा दो बड़े गुण थे—देशभक्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता। सोवियत संघ का कोई गैररूसी नागरिक राष्ट्रीयता का अपराधी तब समझा जाता था जबकि वह उन अन्तरों पर बल देता था जो उसकी क़ौम को रूसी क़ौम से अलग करते हैं; उसको सर्वदेशीयता का अपराधी तब समझा जाता था जब कि वह अपनी क़ौम तथा सोवियत संघ से बाहर की किसी क़ौम के मध्य वर्तमान सांस्कृतिक सम्बन्धों पर बल देता था उदाहरण के लिये, उज्वेकों और ताजिकों को ईरान, तुर्की और अरब निवासियों और उनके दोनों के देश में पाये जाने वाले अरबी तथा फारसी साहित्य की सर्वसामान्य सांस्कृतिक परम्पराओं पर बल नहीं देना होगा। देशभक्ति का सदा सोवियत संघ के पक्ष में होना आवश्यक है। देशभक्त को इस बात का आग्रह करना होगा कि पड़ौसी देशों से सोवियत संघ श्रेष्ठ है और उसे पड़ौसी राज्यों से प्रादेशिक दावे भी करने होंगे। उदाहरण के लिये जार्जियाई देशभक्त को जार्जिया को स्वतंत्र करने की कोशिश नहीं करनी होगी, परन्तु उसे इस बात की कोशिश करनी होगी कि वे तुर्की प्रदेश, जो कभी जार्जियाई थे अथवा जिनमें थोड़े बहुत भी जार्जियाई बोली बोलने वाले लोग बसते हों, (जैसे उत्तर-पूर्वी तुर्की में लाज़िस्तान) जार्जियाई सो. स. ग. के अंग बना लिये जायँ। आज़रबाइजानियों को, निश्चय ही, इस बात की कोशिश करनी होगी कि ईरानी आजरबाइजान को सोवियत संघ में सम्मिलित कर लिया जाय (इस पर १९४५-४६ में सोवियत सेनाओं ने कब्ज़ा कर लिया)।

इन सिद्धान्तों को भूतकाल तक पर भी लागू कर दिया गया। तुर्की लोगों की परम्परागत वीर कविताओं की निन्दा इस कारण कर दी गई की उनमें 'राष्ट्रीयतावादी भावना' विद्यमान है। जिन सोवियत ऐतिहासिकों ने काकेशस तथा मध्य एशिया की जारों द्वारा की गई विजयों की निंदा उन्हें साम्राज्यवादी कार्रवाई बताकर की थी, अब उन्हीं लेखकों को उन विजयों की प्रशंसा करने को विवश होना पड़ा। उन्नीसवीं सदी के प्रथमार्ध में जो इमाम शमील दाग़ेस्तान का वीर नायक माना गया था, अब उसे प्रतिगामी मुल्ला और आंग्ल-तुर्की कठपुतली चित्रित कर दिया गया। जारों की विजयों की प्रशंसा ध्येय की दृष्टि से प्रगतिशील बताकर की गई। इसके दो मुख्य कारण थे: इनके कारण इन कौमों के 'सामन्तवाद' से 'पूँजीवाद' की ओर आवश्यक सामाजिक विकास की रफ्तार तेज हो गई और दूसरा कारण यह कि इन्होंने इनका

सम्पर्क [illegible] जनता को प्रवर संस्कृति से कराया । निस्सन्देह इन युक्तियों में ठीक उतनी ही, न कम, न ज्यादा, सचाई है कि जितनी इस युक्ति में है कि अंग्रेज़ी और फ्राँसीसी उपनिवेशी शासन से भारत तथा इंडो-चाइना के आधुनिकीकरण में सहायता दी और इस युक्ति में कि भारतीयों और इंडोचीनियों ने अंग्रेजी तथा फ्राँसीसी सांस्कृतिक प्रभावों से लाभ उठाया । सोवियत ऐतिहासिकों की युक्तियाँ वस्तुत: 'श्वेतांगों के दायित्व' के सिद्धान्त का अर्धमावर्सवादी अनुवाद मात्र ही हैं । उनका जो कुछ अभिप्राय था उसे किपलिंग समझ लेता ।

* * *

स्तालिन की मृत्यु के बाद कुछ नरम नीति से काम लिया जाने लगा । पुलिस आतंक के घटने से, अधिकतर बन्दी शिवरों के बन्द हो जाने से, कई दण्ड विधानों को निरस्त कर देने से, कृषि-उत्पादनों के मूल्यों में सुधार होने से और उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हो जाने से गैर-रूसियों को, निश्चय ही, लाभ पहुँचा—इन बातों ने १९५९ के अन्त तक सोवियत नागरिकों के अधिक प्रसन्न बनाने में योग दिया । एन. एस. ख्रुश्चोव ने, जो ग्यारह वर्ष तक उक्रइन में कार्य कर चुका था, एक बार सोवियत नेताओं की प्रथम पंक्ति में पहुँच जाने पर उक्रइनी राष्ट्रीयता की भावना को सन्तुष्ट करने की कोशिश की । १९५४ में पेरेयास्लाव्ल संघ (उक्रइन तथा रूस के एकीकृत संघ) की त्रि-शताब्दी बड़ी धूमधाम से मनाई गई और यह स्पष्ट कर दिया गया कि सोवियत राष्ट्र-परिवार में यदि रूसी बड़े भाई हैं तो उक्रइनी उसके बाद दूसरे भाई हैं । ख्रुश्चोव ने बहुत से उक्रइनियों को मास्को तथा रूस में सरकारी तथा दल के ऊँचे पद प्रदान किये । जार्जिया-जन्मे, सुरक्षा पुलिस के मुखिया वेरिया और आज़रबाइजान में उसके घनिष्ठ साथी एम. डी. बागीरोव का अपमान हो जाने पर, ट्रान्सकाकेशिया के कार्यकर्त्ता वर्ग में उलटफेर कर देना सम्भव हो गया—इससे नये व्यक्तियों को जीवन में सफलता प्राप्त करने का अवसर मिल गया । परन्तु जार्जिया में फरवरी १९५६ में सोवियत संघ के साम्यवादी दल की बीसवीं कांग्रेस के गुप्त अधिवेशन में दिये गये ख्रुश्चोव के भाषण में स्तालिन की अप्रतिष्ठा किये जाने पर रोष हुआ जो व्यापक दंगों के रूप में प्रकट हुआ । ऐसा लगता है कि क्रुद्ध स्तालिनवादी और जार्जियाई राष्ट्रीयतावादी कुछ समय के लिये मिल गये । मध्य एशिया में 'बुर्जुआ राष्ट्रीयता' की भर्त्सना कम मात्रा में की गई । एक मध्य एशियाई उज़्बेक सो. स. ग. का

एन. ए. मुखित्दिनोव पहली बार (१९५७ में) सोवियत संघ के उच्चतम राज-

नीतिक माध्यम, साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के सभापतिमण्डल का, एक सदस्य बना। बाल्टिक राज्यों में बाल्टिक साम्यवादियों को अधिक अधिकार सौंप दिये गये और रूसियों का प्रभुत्व घट गया।

* * *

१९२१ से क्रमश: बनती आ रही 'राष्ट्रिकता की नीति' के इस संक्षिप्त पर्यवेक्षण के प्रकाश में, अब हमें सोवियत संघ के रूसियों तथा गैर-रूसियों के आपसी सम्बन्धों के कई व्यापक पहलुओं—राजनीतिक अधिकार, आर्थिक-उन्नति, शिक्षण और संस्कृति—पर विचार करना होगा।

सोवियत संविधान को कभी-कभी 'संघीय' कहा जाता है, यह भूल है। संघीय शासन का यह अभिप्राय होता है कि अधिकारों का केन्द्रीय तथा प्रादेशिक अधिकारों में वितरण हो और किन्हीं क्षेत्रों में प्रत्येक सर्वोच्च हो। सोवियत संघ में यह बात नहीं है। पन्द्रह सो० स० ग० केन्द्रीय सरकार के समकक्ष नहीं, इसके अधीनस्थ, हैं। सोवियत संघ की सरकार एकात्मक पद्धति की सरकार है जिसमें कुछ अधिकार गणराज्यों को प्रदान अथवा हस्तान्तरित कर दिये गये हैं। यह हस्तान्तरण भी इस तथ्य से लगभग अनिश्चित हो जाता है कि समूचे शासन-यन्त्र को चलाने और अपने वश में रखने वाला साम्यवादी दल है और वह बहुत ही अधिक केन्द्रीकृत है। संविधान के अनुसार गणराज्यों को संघ से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने का अधिकार प्राप्त है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति सम्बन्ध विच्छेद का समर्थन करेगा तो वह अपने आपको 'प्रतिक्रान्तिकारी प्रचार' का अपराधी बना लेगा—सोवियत दण्ड संहितानुसार यह अपराध कठोरता से दंडनीय हैं।

गणराज्यों और स्वायत्त सो० सं० गणराज्यों का प्रशासन भी केन्द्रीय प्रशासन की तरह साम्यवादी दल का तानाशाही शासन है। परन्तु गैर-रूसी प्रदेशों में इस तानाशाही की व्यवस्था विभिन्न मात्राओं में गैर-रूसियों के हाथ में है। उक्रइन में ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे अधिक महत्वपूर्ण पदों पर उक्रइनी अधिष्ठित हैं, यद्यपि पदाधिकारियों के नामों को देखकर सरलतापूर्वक यह निश्चय नहीं किया जा सकता, कारण यह है कि उक्रइनी और रूसी नामों में सरलता से भेद नहीं किया जा सकता—और सम्भव है कि स्पष्टतया उक्रइनी नाम वाले भी बोली और अपनी विचारधारा में रूसी हों। (उदाहरण के लिये मैकेंजी नाम वाले जिस व्यक्ति का परिवार इंग्लैंड में पीढ़ियों से रहता आया

है, उसको अपने अंग्रेज़ पड़ौसी से सभी विशेष बातों में न पहचाना जा सके)। जार्जिया और अर्मीनिया में ऐसा लगता है कि जार्जियाइयों और अर्मीनियाइयों का प्रभुत्व है और आज़रबाइजान में सार्वजनिक पदों पर अधिष्ठित रूसियों की संख्या गणराज्य की आबादी में के रूसियों की संख्या के अनुपात से अधिक नहीं है। मध्य एशिया में, निस्सन्देह रूसियों के हाथ में बहुत अधिक अधिकार हैं। ऊँचे पदों पर तो साधारणतया एशियाई हैं जबकि उनके द्वितीय नायक अथवा उपनायक रूसी हैं। इस प्रकार एक सामान्य नमूना इस प्रकार है :— गणराज्यीय दल की केंद्रीय समिति का प्रथम सचिव और गणराज्य के भीतर प्रान्तीय दलीय समितियों के प्रथम सचिव एशियाई हैं, जबकि दोनों स्तरों पर द्वितीय सचिव रूसी हैं। फिर गणराज्य का प्रधानमन्त्री सामान्यत: एशियाई है जबकि उपप्रधानमन्त्रियों में से एक रूसी है। गणराज्यीय मन्त्री प्राय: एशियाई हैं जबकि मन्त्रालयों के विभागों के अध्यक्ष प्राय: रूसी हैं।

* * *

सोवियत संघ विश्वभर में दूसरी औद्योगिक शक्ति बन गया है। इस भारी आर्थिक प्रगति से, जिसकी कुछ नींव शाही युग में रख दी गई थी, निस्सन्देह कुछ सीमा तक रूसी-गैर रूसी सभी सोवियत नागरिकों को लाभ पहुँचा है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है अन्न व खनिजों के मुख्य स्रोत रूसी आबादी के प्रधान क्षेत्रों से बाहर पाये जाते हैं। इन स्रोतों का विकास जिन लोगों की भूमियों पर ये स्रोत विद्यमान हैं, केवल उनके ही लाभ के लिये नहीं, अपितु समष्टिरूप से सारे राज्य के लाभार्थ किया गया है। निश्चय ही इन लोगों को भी लाभ पहुँचा है और यह भी कहा जा सकता है कि एक ही केन्द्र से सारी अर्थव्यवस्था को सञ्चालित किये जाने का परिणाम उस अवस्थासे अधिक अच्छा हुआ है जबकि सभी राज्य स्वतन्त्र रूप से उनका संचालन करते। यह बात निश्चित है कि आज़ारबाइजान, जार्जिया अथवा तुर्केस्तान के स्वतन्त्र राज्य अपनी आर्थिक नीति का संचालन उतनी अच्छी तरह से नहीं कर सकते थे।

इन स्रोतों के विकास किये जाने के कारण रूसी (उक्रइनी भी) भारी संख्या में औद्योगिक केन्द्रों तथा कुछ सीमा तक देहात में भी प्रविष्ट हो गये हैं। जैसा कि हम बता आये हैं उराल पर्वत अठारहवीं सदी में भी खनिज-केन्द्र थे; उन्नीसवीं सदी में उक्रइन उत्पादन में उनसे कहीं आगे बढ़ गया। सोवियत काल से पहले तक इस क्षेत्र की ओर सरकार ने अधिक ध्यान नहीं दिया। प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं का तथा १९४१ में यूरोपीय रूस पर जर्मन आक्र-

मण के समय कारखानों और मजदूरों के यहाँ से निकल जाने के कारण उराल

प्रदेश धात्वीय तथा इन्जीनियरी उद्योगों का विश्व के सबसे बड़ा केन्द्र बन गया। साइबेरिया-स्थित कजनेत्स बेसिन के कोयला-स्रोत भी बड़े धातु-उद्योग का एक आधार बन गये। इन दोनों ही बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में यहाँ के मूल निवासी बाशकीर, तातार अथवा अवर साइबेरियाई लोग रूसियों के अधिक संख्या में पहुँच जाने के कारण प्रभावहीन बन गये। तेलोत्पादन केन्द्रों में भी यही कुछ हुआ। बाकू अधिकतर रूसी नगर है, यद्यपि इसकी आबादी में तथा यहाँ के मजदूर वर्ग में अजेरी तत्व भी पर्याप्त है। बाशकीर गणराज्य में तो पहले ही, १९२०-१९२९ के काल में, बाशकीर सारी आबादी के एक चौथाई ही थे और इस प्रदेश में सोवियत संघ के दूसरे प्रमुख तेल उद्योग के, १९३० की दशी से हुए विकास का परिणाम यह हुआ है कि रूस में से बाशकीर सभ्यता वैसे ही लुप्त हो गई जैसे कि ओक्लाहोमा में तेल निकल आने से श्वेत अमरीकी सभ्यता द्वारा ओक्लाहोमा रेड इण्डियनों का विलयन हो गया है।

* * *

रूसी किसानों ने कज्जाख स्तेपियों और तुर्कस्तान में कृषि-उपनिवेश बसाने की जो प्रक्रिया शाही प्रशासन के समय शुरू की थी वह सोवियत संघ के शासन में भी चालू रही। १९५९ में कज्जाख सो० सा० ग० में रूसी लोग आबादी के ५२%, किरगिज़ सो० स० ग० में ३७%, तुर्कमान सो० स० ग० में १८%, और उज़्बेक सो० स० ग० तथा ताजिक सो० स० ग० में से प्रत्येक में १५% थे। कज्जाकस्तान की 'अनजुती' भूमियों को जोतने बोने की ख्रुश्चेव की योजनाओं की प्रगति से उस गणराज्य मे रूसी बहुमत का बढ़ जाना अनिवार्य है।

ख़ास-ख़ास फ़स्लों के लिये कृषि-उद्यम करने की प्रक्रिया भी शाही प्रशासन से ही शुरू हुई थी—वह अभी तक चालू है। जार्जिया में चाय का उत्पादन इसका एक उदाहरण है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उदाहरण तुर्केस्तान में कपास के उत्पादन का है। क्रांति से पूर्व इस प्रदेश में जितनी कपास पैदा होती थी उससे अब पाँच गुना होती है और यह प्रदेश अब सोवियत-रूई-वस्त्र उद्योग के कच्चे माल की ८५ प्रतिशत आवश्यकता को पूरा करता है। प्रति एकड़ उपज अब भूतकाल की उपज से बहुत अधिक है। परन्तु इसमें और अधिक उन्नति की गुंजाइश है। उज़्बेक के सभी साम्यवादी इस विशिष्टीकरण को

पसन्द नहीं करते । मध्य एशिया में कृषि में विविधता लाने के प्रयत्न समय-समय पर किये गये हैं परन्तु मास्को उनको रोकने में सफल रहा है । युक्ति यह दी जाती है कि समष्टिरूप से सारी सोवियत अर्थ व्यवस्था किसी एक क्षेत्र के लोगों की पसन्दगी से पहले है। यदि तुर्केस्तान स्वतंत्र होता तो निश्चय यह अपनी अर्थव्यवस्था को केवल किसी अकेली फ़सल पर इतना अधिक निर्भर न रखता। परन्तु अकेले तुर्केस्तान की आवश्यकताओं की सीमा में सोचना 'बुर्जुआ राष्ट्रीयता' का अपराध करना होगा । तुर्केस्तान में कपास की खेती के लिये सोवियत-आग्रह में और मिश्र में कपास की खेती के बाधित ब्रिटिश-विकास में आश्चर्यजनक समानता है।

एशियन गणराज्यों में उद्योगों को भी बढ़ाया गया है । उदाहरण के लिये, मध्य एशिया में खाद तथा कताई-मैशीनें बनाने के कारखाने विद्यमान हैं, साथ ही, कुछ प्रकार के इंजीनियरी और पर्याप्त विविध प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग भी चल रहे हैं । १९५७ में यूरोप के लिये नियुक्त संयुक्त राष्ट्रों के आर्थिक आयोग ("युनाइटेड नेशन्स इकोनॉमिक कमिशन फ़ौर यूरोप") की जाँच में बताया गया था कि उज़्वेक, तुर्कमान, ताज़िक और किर्गिज़ गणराज्यों में जीवनस्तर समष्टि सोवियत संघ के जीवनस्तर से केवल २०-२५ प्रतिशत नीचे थे । जैसा कि आयोग ने बताया, यूरोप के अधिकांश देशों में इसी पैमाने पर जीवन-स्तरों की प्रादेशिक विषमता की विद्यमानता एक सामान्य बात थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सोवियत मध्य एशियाई देशों के लोगों की भौतिक अवस्थायें पड़ौसी ईरान तथा अफ़गानिस्तान के लोगों की भौतिक अवस्थाओं से अच्छी थीं।

* * *

शिक्षा में निश्चय ही बहुत उन्नति कर ली गई है। शिक्षा के प्रति सोवियत सरकार का दृष्टिकोण जारों के दृष्टिकोण से बिल्कुल विपरीत रहा । शाही मन्त्री तो जनता को शिक्षा देने से इस कारण डरते थे कि कहीं शिक्षा उनके मस्तिष्क में (नये) विचारों को न उत्पन्न कर दे और सोवियत नेता (जापान के मीजी युग के सुधारकों की भान्ति) यह मानते थे कि अशिक्षितों की अपेक्षा शिक्षित लड़के-लड़कियाँ अधिक कार्यकुशल मज़दूर; किसान और सैनिक बन सकते हैं । सोवियत युग में, विशेषकर १९३५-३६ के बाद से शिक्षा में सभी स्तरों पर द्रुत प्रगति हुई है और विशेषकर पिछले दस वर्षों में तो शिक्षा की कोटि में भी सुधार हुआ है। शिक्षा से रूसियों और ग़ैर-रूसियों-दोनों-को लाभ

पहुँचा है। मध्य एशिया तक में भी अब यह दावा किया जाता है कि ९०% आबादी साक्षर है। केवल एशियाइयों के लिये तो यद्यपि यह अनुपात, निश्चय ही, कम होगा (पूरे इलाके के २ करोड़ ४० लाख निवासियों में से ७ लाख रूसी हैं) तथापि यह एक आकर्षक उपलब्धि है। यह भी सच है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा एशियाई भाषाओं में दी जाती है और यह कि इन भाषाओं में पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन विशाल पैमाने पर होता है। इस में कोई सन्देह नहीं है कि इस साहित्य के विषय पर भी वही प्रतिबन्ध लगा हुआ है जो सोवियत संघ में सारे के सारे साहित्य पर लागू है— अर्थात् इसमें साम्यवादी दल की किसी नीति की आलोचना नहीं होनी चाहिये और राजनीति-भिन्न विषयों में दल द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों से भी इसे पथ-भ्रष्ट नहीं होना चाहिये।

तथापि यह बात तो माननी पड़ेगी कि शिक्षा की इस प्रगति का उद्देश्य ग़ैर-रूसी जातियों की व्यक्तिगत संस्कृतियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं था अपितु एक संश्लिष्ट (अथवा बनावटी) सोवियत साम्यवादी संस्कृति को लाभ पहुँचाना था और यह कि व्यवहार में इस सोवियत संस्कृति में रूसीकरण के प्रबल तत्त्व विद्यमान हैं। तातारों, अज़ेरियों, काकेशियाइयों और मध्य-एशियाइयों की संस्कृतियों के इस्लामी तत्त्व को, यथासम्भव जड़ से उखाड़ा जा रहा है। मध्यएशिया के पृथक् 'राष्ट्रों' के लिये साहित्यिक भाषाओं का विकास इस ढंग से किया गया है कि अरबी-फारसी शब्दों को अधिक से अधिक संख्या में हटा दिया गया है और रूसी शब्द घुसेड़ दिये गये हैं—व्याकरण और वाक्यरचना तक को रूसी ढंग पर नये सिरे से ढाल दिया गया है। १९२० से १९२९ तक की अवधि में सोवियत नीति अरबी वर्णमाला के स्थान पर उसकी रूपान्तरित लैटिन वर्णमाला को लाने की रही—(इसी समय तुर्की में कमाल अतातुर्क ने यही किया था)। इस कार्यवाही ने तरुण सन्तति का अपनी परम्परागत संस्कृति से वस्तुतः सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। परन्तु १९३९ के पश्चात् लैटिन वर्णमाला के स्थान पर परिवर्तित स्लाव वर्णमाला का व्यवहार करने का निर्णय कर लिया गया; इस प्रकार तरुणों का सम्बन्ध यूरोप और तुर्की, दोनों से कट गया। गैर रूसी प्रदेशों में स्थित स्कूलों में रूसी भाषा की शिक्षा पर भी पहले से अधिक बल दिया गया। निस्सन्देह यह बात न्यायविरुद्ध नहीं प्रतीत होती कि तरुण संतति से यह आशा की जाय कि वे संघ की, संख्या में सबसे अधिक तथा सबसे अधिक समुन्नत राष्ट्र जाति की, भाषा को सीखें। तरुण अज़े-

रियों अथवा ताजिकों अथवा याकूतों के लिये रूसी भाषा का ज्ञान उतना ही उपयोगी है जितना कि अंग्रेजी का ज्ञान तरुण बंगालियों अथवा मद्रासियों के लिये उपयोगी है । परन्तु एक प्राप्त अधूरी सूचना से ऐसा पता लगता है कि व्यवहार में यह बात है कि रूसी भाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की संख्या अनुपात में आबादी के रूसियों की संख्या से पर्याप्त अधिक है। विश्वविद्यालयों और उच्चस्तरीय प्राविधिक प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं में यह बात विशेष रूप से विद्यमान है। यह बात भी साधार है कि मध्यएशियाई गणराज्यों में तथा आज़रबाइजान के विश्वविद्यालय स्तर के तथा उच्चस्तरीय प्राविधिक प्रशिण स्तर के छात्रों में रूसियों का अनुपात कुछ अधिक है। शिक्षक मण्डल में यह अनुपात और भी अधिक है। इस वक्तव्य के प्रमुख अपवाद जार्जियाई तथा अर्मीनियाई गणराज्य हैं । इन गणराज्यों में पारम्परिक राष्ट्रीय वर्णमाला प्रयुक्त होती है और रूसी भाषा के प्रयोग का प्रबल (इसको दुराग्रहपूर्ण अतिराष्ट्रीयतावादी भी कह सकते हैं) विरोध विद्यमान है।

इस प्रकार हमने देखा कि गैर-रूसी प्रदेशों में सोवियत प्रशासन की आर्थिक तथा सांस्कृतिक सफलताएँ महान् हैं और उनके लिये उसको श्रेय दिया जा सकता है । परन्तु इन राष्ट्रजातियों को जो लाभ मिले हुए हैं वे उन्हें ऊपर से सौंपे गये हैं और उस सरकार ने सौंपे हैं जो यह समझती है कि उनके हितों को वह स्वयं उनसे अधिक अच्छी तरह जानती है । यह पैतृकतावादी रुख है जो शाही तथा उपनिवेशी प्रशासनों का उपलक्षक है । ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी साम्राज्यों की भान्ति सोवियत साम्राज्य के भी उदार और दमनकारी दो प्रकार के पहलू हैं । सम्भव है कि सोवियत साम्राज्य की भौतिक सफलताएँ ब्रिटिश साम्राज्य की भौतिक सफलताओं से अधिक महान् हों, परन्तु इन सफलताओं की उपलब्धि देशी इस्लामी संस्कृति का उन्मूलन जान-बूझकर उस बर्बर अव्यावहारिक असहिष्णुता से किया गया जिसका प्रयोग न तो भारत में अंग्रेज, न ही अल्जीरिया में फ्रांसीसी कर पाये । अन्त में यह रूसी मुसलमानों के लिये लाभप्रद रहा या नहीं—यह विषय तो ऐसा है कि इस पर विभिन्न मत होने सम्भव हैं । दमनकारी पहलुओं में लाखों उक्रइनी किसानों और कज़ाक घुमन्तुओं को जान-बूझकर भूखों मार देना और समूची जातियों को उनके घरों से निर्वासित कर देना आदि कृत्य सम्मिलित हैं—इनके सामने १८५७ की भारतीय बग़ावत के पश्चात् लिये गये ब्रिटिश प्रतिशोध अथवा १९५० से १९५९ तक अवधि में किये गये अल्जीरियाई विद्रोहियों के दमन के

कृत्य कुछ नरम प्रतीत होते हैं।

* * *

प्रायः यह कहा जाता है कि सोवियत संघ में 'रंगभेद' बिल्कुल नहीं है। शारीरिक विशिष्टता के आधार पर भेदभाव हो, यह तो कल्पना में भी नहीं आ सकता, इसका कारण यह है कि रूसी, तातारी, और तुर्केस्तानी शारीरिक ढाँचे एक दूसरे में इस प्रकार विलीन हैं कि उन्हें अलग-अलग पहचाना ही नहीं जा सकता। रूस में कभी ऐसा नहीं हुआ कि सर्वथा विभिन्न नस्लों के लोगों में कोई मुठभेड़ हुई हो जैसी कि उपनिवेशी अफ्रीका में अथवा दक्षिणी अमरीका में होती है। तथापि, मास्कोस्थित अफ्रीकी तथा अश्वेत चमड़ी वाले एशियाई छात्रों के अनुभव से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहार में रूसी नस्ली दृष्टिकोण से उतने सहिष्णु नहीं सिद्ध होते जितने सहिष्णु वे सिद्धान्तरूप से अपने आपको बताते हैं।

परन्तु मध्यएशिया में 'रंगभेद' के बिल्कुल न होने का यह अर्थ नहीं है कि वहाँ रूसी और एशियाई आपस में आज़ादी से घुल-मिलकर रहते हैं। व्यवहार में बात यह है कि मध्यएशिया के बहुत से नगरों में रूसियों और एशियाइओं की रिहायशी बस्तियाँ अलग-अलग हैं (आल्मा आता और स्तालिनाबाद इसके अपवाद प्रतीत होते हैं)। सचिवालयों के कार्यालयों तथा फैक्टरियों में दोनों समुदाय मिलते हैं और मिलकर काम करते हैं। परन्तु अपने निजी सामाजिक जीवन में वे नहीं मिलते और अन्तर्विवाह तो बहुत ही कम होते हैं। दूसरी मिली-जुली सोसाइटियों की भान्ति, रूसी समाज में भी, ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक मेलमिलाप और सहिष्णुता का व्यवहार उच्च वर्गों में – उच्च अधिकारियों तथा बौद्धिकों में—अधिक विपुलता से होता है और समाजरूपी मीनार के निम्नतर भाग में—'ग़रीब श्वेतों' में इसका व्यवहार बहुत कम है। इस मामले में संयुक्त राज्य (अमरीका) अथवा यूरोप के उपनिवेशों से साम्य स्पष्ट है।

* * *

सोवियत सरकार ने एक अभिभावी सोवियत देशभक्ति और सोवियत राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने का दायित्व अपने ऊपर लिया हुआ है। यह निश्चित अनुमान कर लेना तो असम्भव है कि यह इस काम में कहां तक सफल हुई है। कभी अमरीकन मामले से इसकी तुलना की जाती है। मिनेसोटा के मैदानों में अथवा पिट्वर्ग की फैक्टरियों में और समस्त अमरीका की शिक्षा पद्धति में

आयरलैंड अथवा जर्मनी अथवा स्लोवाक अथवा इटली में जन्मे लड़के-लड़कियों को अमरीकन बनाया गया। यह कल्पना की जा सकती है कि स्वेर्दलोस्क, ताशकन्द और खारकोव भी मानों ऐसी ही कुठालियाँ हों कि जिनमें से एक सोवियत-राष्ट्र निकल कर बाहर आ रहा हो। सम्भव है ऐसा ही हो। परन्तु यह स्मरण रहे कि इस विषय में अमरीकन अधिकारियों के सन्मुख जितनी समस्याएँ आई थीं उनसे कहीं अधिक सोवियत अधिकारियों के सम्मुख आई हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में तो, उसके आरम्भ काल से ही एक कानूनी और सांस्कृतिक ढाँचा विद्यमान था; आप्रवासी उसमें फिट हो गये और आप्रवासियों ने अमरीका आने के लिए अपनी जन्मभूमियों को छोड़ दिया था। परन्तु सोवियत संघ में तो गैर-रूसी जातियाँ सुसम्बद्ध समुदाय बनाये हुए अपनी परम्पराप्राप्त जन्मभूमियों में बसे हुए हैं। सम्भव है कि वे किसी-रूसी विजेता की अपनी पहली घृणापूर्ण आधीनता के बदले अब सोवियत संघ के प्रति नई वफ़ादारी अर्जित कर रहे हों (यद्यपि यह बात किसी भी प्रकार निश्चित नहीं है)। परन्तु जैसे डेट्रॉयट के लोग पोल अथवा इटालवी नहीं रहे वैसे ये लोग भी उज़बेक अथवा उक्रइनी नहीं रहेंगे—ऐसा होना कठिन है।

* * *

सोवियत शिक्षा ने गैर-रूसी लोगों में आधुनिक दृष्टिकोण वाले कई नये वर्ग—सोवियत परिभाषा में नये 'जनता बौद्धिक वर्ग' बना दिये हैं। सोवियत नेताओं को पूरा भरोसा है कि ये लोग अपने लोगों में मूल्यों की सोवियत पद्धति के सबसे अधिक सक्रिय प्रचारक रहेंगे। सम्भव है कि उनकी आशायें पूरी हो जायँ। परन्तु कम-से-कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह बात अनिश्चित है। भारत में अंग्रेजों ने और इण्डोचीन में फ्रांसीसियों ने अपने कतिपय प्रजाजनों के लिये यह बात सम्भव कर दी थी कि वे आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर सकें। यदि अंग्रेज और फ्रांसीसी विजय न कर पाते तो उनके प्रजाजनों को यह अवसर नहीं मिलता। १६१४ पूर्व के हंगरी राज्य में—हैप्सबर्ग के शासन में हंगेरी (मग्यार) भाषा सीख लेने वाले स्लोवाक, सर्व और रूमानियाई बुडापेस्ट विश्वविद्यालय में उत्तम शिक्षा उपलब्ध कर शके। जवाहरलाल नेहरू और हो चि-मिह्न सर्वोत्तम ब्रिटिश अथवा फ्रैंच सांस्कृतिक विशिष्ट वर्ग के साथ डटे रह सके। हंगरी साहित्य, कला अथवा जीवनानन्द में उन्हें जो भी कुछ दे सका उसको स्लोवाक और सर्वियाई बौद्धिकों ने पूरा-पूरा विलीन कर लिया परन्तु फिर भी ये लोग अपने निजी लोगों में विदेशी शासन के भाष्यकार नहीं

बने। इसके विपरीत इन्होंने अपनी शिक्षा से जो भी ज्ञान और दक्षता उपलब्ध की उसका प्रयोग इन्होंने ब्रिटेन, फ्रांस और हंगरी के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने में किया।

क्या सोवियत प्रशासन के हाथ में नये बौद्धिकों को राष्ट्रीयता के रोग से मुक्त करने का कोई नया अद्भुत नुस्खा आ गया है? अथवा क्या इण्डियन नेशनल कांग्रेस के बराबर किसी जार्जियाई अथवा उज़्बेकी संस्था का जो अभाव है उसका केवलमात्र कारण साम्यवादी दल का एक-दली शासन और सोवियत सुरक्षा पुलिस को मिले हुए अधिकार तो नहीं है?

१९५६ में यह तो प्रकट हो गया कि उनके पास कोई चमत्कारी नुस्खा तो है नहीं। हंगरी के बौद्धिक युवक मजदूरों और किसानों के वे बालक थे जिन्हें साम्यवादी सरकार की नीति के परिणाम स्वरूप पिछले दस वर्षों में उच्च शिक्षा प्राप्त हो गई थी; साम्यवादी सरकार ने विश्वविद्यालयों और कालेजों के द्वार उन लोगों के लिये खोल दिये थे जिन्हें पुराने शासन में उनसे बाहर रखा गया था। तो भी यही वह बौद्धिक युवक वर्ग था जिसने उस राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष का नेतृत्व किया जो केवल शासन करने के अपने क्रूर तरीकों के कारण ही घृणास्पद नहीं था परन्तु सब बातों से बढ़कर इस बात से घृणायोग्य था कि यह एक विदेशी आक्रान्ता का बनाया हुआ था।

सभी उपनिवेशी साम्राज्यों के विगत अनुभव को और पिछली दशियों में एशिया तथा अफ्रीका के इतने अधिक देशों में बौद्धिकों ने जो भूमिका अदा की है उसको ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि यदि सोवियत संघ की गैर-रूसी जातियों के बौद्धिक राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित नहीं हुए और उन्होंने यह आशा नहीं बांधी कि सम्भव है कि एक दिन वे स्वतन्त्रता प्राप्त कर लें—तो यह हक्का-बक्का कर देने वाली बात होगी।

सोवियत-पिछलग्गू

सोवियत साम्यवादियों का काम रूसी गृह युद्ध में उनकी विजय से केवल शुरू ही हुआ था। रूस ही पहला वह देश था जिसमें साम्यवादी दल सत्तारूढ़ हुआ था, परन्तु लक्ष्य केवल रूस को ही साम्यवादी बना लेना नहीं था, लक्ष्य था संसारभर को साम्यवादी बनाना। मार्क्सवादी विज्ञान द्वारा निर्धारित इतिहास के नियमों का विधान यह था कि मानव नस्ल इस बात के लिये बाधित है कि वह एक के बाद दूसरी अवस्थाओं में से गुजर कर समाजवाद की अवस्था में पहुँचे और फिर समाजवाद में से होकर साम्यवाद की अवस्था में आवे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साम्यवादी हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहें और अपना काम इतिहास को करने दें। प्रक्रिया की रफतार बढ़ाने में उन्हें पूरा बल लगाना पड़ेगा। लेनिन का सदा यही दृढ़ विश्वास रहा। उसकी सम्मति के अनुसार, एक साम्यवादी जो बड़े पाप कर सकता है उनमें एक सबसे बड़ा पाप 'प्राकृतिक' शक्तियों पर भरोसा करके निष्क्रिय बैठ रहना है। साम्यवादी सरकार का मुख्य प्रयोजन विश्व-व्यापी क्रांति की सहायता करना है। इसका एक प्रतिबाधक नियम यह है कि अक्खड़ कार्रवाही से स्वयं आधार पर ही संकट नहीं आना चाहिये। रूसी साम्यवादियों को, स्पष्टतः अपनी शक्ति रूस में केन्द्रित करनी होगी और रूस में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करनी होगी। परन्तु उन्हें औद्योगिक यूरोप में (जो उनकी आशाओं का मुख्य केन्द्र था) और पिछड़े एशिया में—दोनों स्थानों पर, क्रान्ति को सहायता देनी पड़ेगी।

सहायता में, जब और जहाँ यह उपयोगी हो सके, (जैसे १९२० की गर्मियों में पोलैंड में और १९२१ के वसन्त में मंगोलिया में हुई,) सैनिक सहायता भी सम्मलित थी। परन्तु लेनिन का निश्चय ही यह विचार नहीं था कि विश्व-समाजवादी क्रान्ति कोई लाल सेना की सैनिक विजय की प्रमुख प्रक्रिया है। जहाँ तक यूरोप का सम्बन्ध है, लेनिन यह मानता था कि प्रमुख उद्यम स्वयं यूरोपी मजदूर करेंगे। एशिया में वह लालसेना से दी जा सकने वाली सहायता को

साम्राज्यवाद का प्रतिपक्ष ही समझता था । [illegible] यूरोपीय साम्राज्यवादियों के जुए को उतार फेंकने में एशियाइयों की मदद कर सकती थी । रूस द्वारा अपने निजी साम्राज्यवाद के क्रियान्वित करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था । उसने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि ताशकन्द के बोल्शेविकों ने तुर्केस्तान के मुसलमानों पर अत्याचार किये थे और वह इस बात से अप्रसन्न था कि जार्जिया पर हमला किया गया और वहां बोल्शेविक राज्य स्थापित करने के लिये स्तालिन ने जो उपाय किये उनसे तो वह और भी अधिक अप्रसन्न था । मंगोलिया पर किये गये आक्रमण के सम्बन्ध में उसकी क्या सम्मति थी यह तो निश्चय से पता नहीं लग सका : शायद रोग-ग्रस्त हो जाने के समय तक उसे इसके परिणामों के विषय में पूरी सूचना नहीं प्राप्त हुई होगी । परन्तु तुर्केस्तान और जार्जिया के मामले उसे, मूलतः एक निर्दोष नीति से दुःखद पथ-भ्रष्टता के मामलों से अधिक प्रतीत नहीं हुए । सदियों तक 'सामन्तवाद' और 'पूंजीवाद' रहे आने से जो बुरी मानसिक आदतें बन गई थीं गलत सोचने की आदतें पड़ गई थीं । उनके हटते ही एक स्वतन्त्र और न्यायशील समाज प्रकट हो जायगा ।

१९१९ के पश्चात् यूरोप में क्रान्ति की आशायें कम हो गईं । लेनिन के उत्तराधिकारियों का मुख्य काम रूस में एक नये राज्य का निर्माण करना था । स्तालिन और उत्तराधिकार के हेतु उसके प्रतिद्वन्द्वियों में विवाद के प्रमुख विषयों में से एक यह रहा कि एक ही देश में समाजवाद का निर्माण कर-लेना सम्भव है या नहीं । इस मतभेद की जटिलताओं से यहाँ हमारा कोई संबंध नहीं है । हमें तो केवल इतना ही कहना है कि इस प्रतिद्वन्द्विता में विजयी हुए स्तालिन ने विश्वक्रान्ति के लक्ष्य को कभी नहीं छोड़ा । उसने केवल इतना ही किया कि त्रोत्स्की अथवा जिनोव्येव ने इस लक्ष्य को जितनी प्राथमिकता दे रखी थी उससे कम दर्जे की अस्थायी प्राथमिकता दी । उसने इस बात का बलपूर्वक प्रतिपादन किया कि समाजवाद की रचना यद्यपि अकेले सोवियत संघ में भी की जा सकती थी परन्तु जब तक इसको 'पूंजीपति घेरे' का भय बना रहेगा तब तक यह समाजवादी रचना निर्विघ्न नहीं रह सकती । सोवियत पद्धति तभी निर्भय बन सकती है जबकि विश्व के समुन्नत औद्योगिक देशों में से कई देशों में समाजवादी प्रशासन स्थापित हो जायँ और तभी "समाजवाद की अखंड विजय" सुनिश्चित मानी जा सकती है ।

परन्तु स्तालिन की १९२९ की 'दूसरी क्रान्ति' के बाद सोवियत संघ में जो

बड़े-बड़े परिवर्तन होने से उनका परिणाम यह हुआ कि स्वयं 'समाजवाद' शब्द का सारतत्व ही बदल गया। १९३६ में रूस में नया संविधान प्रस्तुत कर दिया गया। इसके अनुसार सोवियत संघ "मजदूरों और किसानों का समाजीवाद राज्य" था। बाधित कृषिक सामूहिकीकरण और बाधित योजनाबद्ध औद्योगीकरण द्वारा संरचित नई व्यवस्था समाजवाद बन गई। सोवियत प्रशासन समाजवाद के लिए अन्तिम आदर्श लेख बन गया। सोवियत प्रशासनके अतिरिक्त और कुछ भी समाजवाद नहीं था। समाजवादी वे ही लोग थे जिनका लक्ष्य अपने देशों में सोवियत-नक्शे के आधार पर ढाली गई पद्धति की स्थापना करना था। समाजवादी दल वे मार्क्स-लेनिनवादी दल होंगे जो मास्को स्थित कट्टर आदर्शवादियों द्वारा किसी विशेष अवसर पर प्रतिपादित सिद्धान्तों को दल का सिद्धान्त मान लें। जो दल, कहें तो अपने आपको समाजवादी, परन्तु दलीय सिद्धान्त को स्वीकार न करें अथवा मार्क्स-लेनिनवाद में आस्था तक भी प्रकट न कर सकें वे बिल्कुल भी समाजवादी नहीं हैं—जैसे उदाहरण के लिये—ब्रिटिश मजदूर दल अथवा जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी। समाजवादी क्रान्ति का एक मात्र यही अर्थ किया जा सकता है कि सोवियत पद्धति का दूसरे देशों में हठात् प्रसार।

* * *

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले तक इन सिद्धान्तों के फलितार्थ प्रकट नहीं हुए थे। एक मात्र मंगोलिया में ही उनको क्रियान्वित किया जा सकता था। १९-२९ से १९३२ तक "सामाजिक रूपान्तरण" की 'वाम' नीति को कार्यान्वित रखा गया—इसका व्यापक प्रतिरोध हुआ और आर्थिक उथल-पुथल मच गई। इसके बाद और अधिक नरम नीतियाँ स्वीकार की गईं। १९३८ में सोवियत छँटनियों का अनुकरण मंगोलिया में किया गया: इन छँटनियों के शिकार वे व्यक्ति बने जिन पर यह सन्देह था कि वे मंगोलियाई राष्ट्रीयतावादी हैं; अर्थात् जो यह चाहते थे कि उनका देश सोवियत संघ पर कम निर्भर बन सके। मंगोलिया का निर्विवाद गवर्नर (क्षत्रप), इसका 'लघु स्तालिन' १९२१ के अपने साथियों में से बचा-खुचा मार्शल चोई बल्सान था। १९४९ में एक संविधान स्वीकार किया गया जो सोवियत संघ के बुर्यात मंगोल स्व. स. ग. के संविधान से बहुत ही कम भिन्न था। इस विधान के अनुसार मंगोलिया की अर्थव्यवस्था का गठबन्धन स्पष्टतया सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था से कर दिया गया। १९३१ में पारम्परिक मंगोल वर्णमाला के स्थान पर जो लैटिन वर्णमाला

प्रवर्तित की गई थी अब १९४१ में उसके स्थान पर मंगोल भाषा के लिए स्लाव वर्णमाला प्रवर्तित कर दी गई। १९५२ में चोईवल्सान की मृत्यु के समय तक मंगोल-जनता-गणराज्य सोवियत संघ का एक पिछलग्गू देश बन गया था, दूसरे सोवियत गणराज्यों में और इसमें अन्तर केवल इतना ही था कि इसकी अर्थ-व्यवस्था वहुत पिछड़ी हुई थी ।

परन्तु मंगोलिया किस प्रकार पिछलग्गू वन गया—इस वात को संसार में बहुत कम लोग जानते हैं। १९४४-४५ में सोवियत सेना ने जब तक लगभग आधे यूरोप पर कब्जा नहीं कर लिया था तव तक 'समाजवाद' और 'समाज-वादी क्रान्ति' विषयक इन नई धारणाओं का महत्व अधिक अच्छी तरह समझ में नहीं आया था।

* * *

पराजित जर्मन सेनाओं का पीछा करते-करते सोवियत सेनाओं ने बाल्टिक राज्यों, उत्तरी पोलैंड और वेसाराबिया पर फिरसे कब्जा कर लिया; फिर शेष पोलैंड, जर्मनी के एक भाग, सारे चेकोस्लावेकिया, हंगरी, रूमानिया और वल्गारिया पर अधिकार किया; और वे युगोस्लाविया के उत्तर-पूर्वी किनारे में से होकर गुजर गईं। सुदूर पूर्व में उन्होंने समूचे मंचूरिया और कोरिया के उत्तरी अर्धभाग पर अधिकार कर लिया ।

अधिकृत जर्मनी और कोरिया में सोवियत अधिकारियों ने क्रमशः, साम्य-वादी दलों द्वारा नियन्त्रित और सोवियत नमूने के प्रशासन स्थापित कर दिये। मंचूरिया में सोवियत सेना का इस रूप में कुछ महत्व अवश्य था कि च्यांग-काईशेक की सेनाओं के विरुद्ध लड़े जा रहे गृह युद्ध में विजय प्राप्ति के लिये चीनी साम्यवादियों को लड़ाई का सम्मान दिया जा सके। परन्तु सोवियत सरकार और च्यांगकाईशेक की सरकार के मध्य हुई १९४५ की सन्धि के अनु-सार सोवियत संघ को समर्पित ल्याओलंग प्रायद्वीप के अतिरिक्त सारे ही चीनी क्षेत्र से सोवियत सेना शीघ्र ही हटा ली गई। दस वर्ष बाद यह प्राय-द्वीप भी चीन को लौटा दिया गया।

युगोस्लाविया में जर्मन आक्रान्ताओं और युगोस्लाव राजनीतिक शक्तियों, फासिस्ट और लोकतन्त्रीय, दोनों, के विरुद्ध लम्बे युद्ध के परिणाम स्वरूप स्वयं साम्यवादियों ने सत्ता हथिया ली थी । अल्बानिया में भी, युगोस्लाविया से थोड़ी सहायता लेकर, अपने निजी उद्योग से ही साम्यवादियों ने सत्ता हथि-याई थी।

यहाँ पर हमारे इस विवरण का न तो सम्पूर्ण सोवियत आधिपत्य वाले क्षेत्रों (पूर्वी जर्मनी और उत्तरी कोरिया) से कोई सम्बन्ध है और न ही देशी-साम्यवादी-प्रशासनों (युगोस्लाविया और अल्बानिया) से ही है; यद्यपि कभी-कभी उनका उल्लेख करने का प्रसंग तो होगा ही। इस अध्याय का वर्णनीय विषय वे पाँच यूरोपीय पिछलग्गू राष्ट्र हैं जहाँ पर साम्यवादियों को सत्तारूढ़ तो मुख्य रूप से सोवियत कार्रवाई से किया गया था, परन्तु जिन्होंने कम-से-कम दीखने में तो, अपना रूप स्वतंत्र संयुक्त राज्यों का बनाये रखा था। इनके नाम हैं—पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया और बल्गारिया।

जबतक उनमें साम्यवादी-शासन स्थापित नहीं पाया था तब तक इन पाँच देशों की जनताओं में आपसी समानताओं की अपेक्षा आपसी भिन्नताएँ अधिक उल्लेखनीय बनी रहीं। पोल, स्लोवाक, बल्गारियाई लोगों की बोलियाँ स्लाव-समुदाय की हैं—जिनका रूसी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जबकि रूमानियाई भाषा मुख्य रूप से लैटिन है और हंगेरियन भाषा युरोप में बोली जानेवाली प्रत्येक बोली से भिन्न है। अधिकतर पोल, चेक, स्लोवाक और हंगेरियन लोगों का धर्म कैथोलिक (रोमन ईसाई) है; रूमानियाई और बल्गारियाई आर्थोडौक्स हैं, साथ ही स्लोवाकिया तथा हंगरी में महत्वपूर्ण प्रोटेस्टैन्ट अल्पसंख्यक और बल्गारिया में एक बड़ी मुस्लिम अल्प संख्या विद्यमान है। १९४५ में चेक देश में अर्थव्यवस्था प्रमुख रूप में औद्योगिक थी, पोलैंड तथा हंगरी में उद्योग और खेतीबारी में पर्याप्त बराबर का सन्तुलन था, जबकि स्लोवाकिया, रूमानिया और बल्गारिया अत्यधिक कृषक देश थे।

छःओं राष्ट्र अपने-अपने इतिहास के लम्बे-लम्बे युग विदेशी शासन के आधीन (आस्ट्रियाई, प्रुशियाई, रूसी अथवा तुर्की शासनों के आधीन) बिता चुके थे। पोल और हंगरियन ही थे कि उनके राज्यों के स्वतन्त्र रहने का सबसे अधिक दीर्घकालीन रिकार्ड विद्यमान था। केवल चेक राष्ट्र में ही राजनीतिक जनतन्त्रता की प्रबल परम्परा विद्यमान थी: १९१८ से १९३८ तक का चेकोस्लोवाक गणराज्य एक वस्तुतः स्वतंत्र और सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील, संसदीय पद्धति का राज्य था। पोलैंड और हंगरी में शासन की पारम्परिक पद्धति अल्पतंत्रीय थी वहाँ कभी-कभी उदार और कभी-कभी तानाशाही शासन पद्धति भी स्थापित हो जाती थी। रूमानिया और बल्गारिया में प्रथम विश्व युद्ध पश्चात् के वर्षों में प्रायः तानाशाही प्रशासन बने रहे थे। इस प्रदेश में १९४५ से पूर्व प्रबलतम साम्यवादी दल 'चेकोस्लोवाक' नाम का था—इस दल को लगभग

आधे चेक मज़दूर वर्ग का सहारा प्राप्त था। बल्गारिया में साम्यवादी दल छोटा और उत्पीड़ित तो अवश्य था परन्तु सुव्यवस्थित था तथा उसके नेता साहसी थे। शेष तीन देशों में साम्यवाद एक नगण्य शक्ति थी।

* * *

१९४४-४५ में जर्मन सेना पोलेंड में जर्मनों से लड़ी। पोलैंड में जब जर्मनों का शासन था तब वहाँ के पोल—प्रतिरोद्धाओं ने एक वीर, सक्षम भूमिगत सेना और लगभग सर्वांगपूर्ण भूमिगत-सिविल तथा सैनिक दोनों प्रकार की सरकार बना ली थी। इस प्रतिरोध-आन्दोलन के नेताओं ने सोवियत सेना को अपनी सहायता प्रदान की। उनको इसका पारिश्रमिक यह मिला कि वे गिरफ्तार कर लिये गये और सोवियत अधिकारियों ने पोल-भूमिगत सरकार का बड़ी क्रूरता से विध्वंस कर डाला। इसके स्थान पर उन्होंने रूस से आयात किये गये पोल-साम्यवादियों की सरकार स्थापित कर दी। कई महीनों तक निष्फल प्रतिवाद और युक्ति-प्रत्युक्ति कर लेने के बाद अमरीकी तथा ब्रिटिश सरकारों ने इस 'सरकार' को इस शर्त्त पर स्वीकार कर लिया कि पश्चिम में जाकर बसे, लोकतंत्री पोल-उत्प्रवासियों के प्रतिनिधियों को इस सरकार में सम्मिलित किया जाय और अबाध चुनाव किये जायँ। परन्तु व्यवहार में हुआ यह कि जो लोकतंत्री देशत्यागी लोट कर आये उन्हें राजनीति में प्रभावी नहीं होने दिया गया और अबाध चुनाव भी नहीं किये गये। सोवियत सेना के संरक्षण में पोल साम्यवादियों ने अपना निजी शासन स्थापित कर लिया।

रूमानिया और बल्गारिया जर्मनी के मित्र रहे थे और रूमानियाई सेना सोवियत संघ के साथ हुए हिटलर-युद्ध में हिस्सा ले चुकी थी। अगस्त १९४४ में रूमानिया के बादशाह माइकेल ने अपने देश को युद्ध से बाहर निकाल लिया और आगामी शरद् ऋतु में रूमानियाई सेना जर्मनों के साथ सोवियत पक्ष में लड़ी। दो सप्ताह बाद बल्गारिया में राज्य क्रांति हो गई और बल्गारियाई सेना भी सोवियत पक्ष की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गई। दोनों देशों में संयुक्त सरकारें स्थापित हो गईं; इनमें कृषक पार्टियों और समाजवादी पार्टियों के साथ साम्यवादियों ने भी हिस्सा लिया था। जब तक जर्मनी से हो रहे युद्ध की समाप्ति नहीं हो गई तब तक सेनाओं के संगठन को और सिविल-प्रशासन के उपकरण को हाथ ही नहीं लगाया गया। बाद में, जर्मनी से युद्ध समाप्त हो जाने पर, साम्यवादी, सोवियत सरकार की प्रबल सहायता से, उनकी छँटनी में लग गये और पदच्युत पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों के स्थान पर अपने नाम-

ज़दों को नियुक्त करने लगे। जर्मनों की पराजय के समय, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में शासन-यंत्र प्रायः नहीं रहा था। यहाँ भी, साम्यवादियों, समाजवादियों, उदार-लोकतन्त्रियों और किसान-दलों की संयुक्त सरकारें स्थापित की गईं और सिविल सत्ता के उपकरण को नये सिरे से बनाया गया। दिसम्बर १९४५ में चेकोस्लाविकया से सोवियत सेना हटा ली गई। शेष स्थानों पर ये बनी रहीं—हंगरी, रूमानिया और बल्गारिया में इस कारण कि वे पराजित शत्रु देश थे, पोलैंड में इस कारण कि रूस को अपनी जर्मनी-स्थित आधिपत्य सेना से सीधे संचार-सम्बन्ध बनाये रखने की आवश्यकता थी।

* * *

इन पाँचों देशों में साम्यवादियों ने १९४५ और १९४८ के मध्य सत्ता हथियाई थी। यह कार्य सामान्यतया तीन मंजिलों में पूरा हुआ था। पहली मंजिल में सरकार सचमुच ही संयुक्त थी, इसमें ग़ैर-साम्यवादी दलों को संगठन करने की छूट, और भाषण देने तथा अपनी निजी नीतियों को प्रस्तुत करने की अपेक्षाकृत स्वतंत्रता प्राप्त थी। दूसरी मंजिल में वास्तविक संयुक्त सरकारों के स्थान पर नक़ली संयुक्त सरकारें स्थापित कर दी गईं, इनमें गैर-साम्यवादी दलों के नेताओं और नीतियों का चुनाव उन दलों के अपने सदस्य नहीं कर सकते थे अपितु साम्यवादी करते थे और इन में इनका कोई प्रवक्ता साम्यवादी नीति की आलोचना नहीं कर सकता था। इस अवस्था में भी वे समाजवादी अथवा किसान-दल-नेता सरकार से बाहर विरोध प्रकट कर सकते थे जिन्हें अपने-निजी दलों से साम्यवादियों द्वारा नाटकीय ढंग से प्रस्तुत छँटनी के द्वारा बलात् बाहर निकाल दिया गया था। तीसरी मंजिल में, ग़ैर-साम्यवादी दलों के बचे-खुचे भाग को या तो नष्ट कर दिया गया अथवा उन्हें बदल कर साम्यवादीदल के, पूरी तरह आज्ञाकारी 'हरावल दस्ते (संस्थाएँ)' बना लिया गया और सरकारी पक्ष के बाहर के सारे विरोध का दमन कर दिया गया। पोलैंड में तो पहली अवस्था कभी आई ही नहीं; १९४५ में साम्यवादी कठपुतली सरकार का (जिसमें कतिपय निस्सहाय लौटकर आये निर्वासित भी सम्मिलित थे) जो प्रशासन स्थापित हुआ था वह दूसरी अवस्था का प्रशासन था। रूमानिया तथा बल्गारिया में प्रथम मंजिल केवल १९४५ में वसन्त ऋतु तक अथवा ग्रीष्मऋतु के आरम्भ तक ही चली। हंगरी में पहली मंज़िल १९४७ के वसन्त तक रही; चेकोस्लोवाकिया में फरवरी १९४८ तक रही। १९४८ के अन्त तक पाँचों के पाँचों देश तीसरी अवस्था में पहुँच चुके थे।

साम्यवादियों की विजय का एक आंशिक कारण यह था कि उन्होंने सिविल

तथा सैनिक कर्मचारी वर्ग में मुख्य पदों पर अपने आदमियों को रखने की व्यवस्थित नीति अपनाई और अपने जनतंत्री प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध समर्थन प्राप्त करने के लिये पदाधिकारियों को रिश्वत देने अथवा डराने-धमकाने की नीति अपनाई। उन्होंने विशेष ध्यान पुलिस पर (विशेष कर इसके सुरक्षा और प्रति गुप्तचर्या विभागों पर), सशस्त्र सेना पर (विशेषतया केन्द्रीय कर्मचारी वर्ग के प्रति-आसूचना विभाग पर) और प्रचार-साधनों पर (विशेष कर प्रसारण पर) ध्यान दिया। उन्होंने कारखानों के प्रबन्ध-विभाग में भी अपने आदमी रख दिये, संयुक्त सरकारों की सर्वसम्मत नीति के अनुसार इन कारखानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था। और अन्होंने ट्रेड युनियानों का नियंत्रण भी सम्भाल लिया—इन युनियनों का बड़ी तेजी से विस्तार हो गया था। साम्यवादी अधिकार की वास्तविक उपयोगिताओं को अपने विरोधियों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते थे। फिर भी यदि सोवियत अधिपत्य सेनाओं की सतत और शक्तिशाली सहायता न मिलती तो इस प्रवर दक्षता से भी उन्हें इस कारण विजय की प्राप्ति न हो पाती कि पाँच देशों में से चार में जनता से उन्हें बहुत ही कम समर्थन मिला था। इन पाँचों देशों में, जर्मनों से 'मुक्ति' के बाद के गड़बड़ी के प्रथम महीनों में, सोवियत सैनिक अधिकारियों और उनके सलाहकारों ने साम्यवादियों अथवा उनकी सिफारिश-प्राप्त व्यक्तियों को महत्त्वपूर्ण पदों पर अधिष्ठित करने के लिये विभिन्न स्तरों पर हस्तक्षेप किया अथवा साम्यवादी दलों को ऐसे साधन उपलब्ध करा दिये जिन से वे रंगरूटों को अपनी ओर आकर्षित कर सकें; साथ ही जनतन्त्रिय की गतिविधि में रुकावटें डालीं और कभी-कभी उन्हें जर्मनों से 'सहयोग करने' के मिथ्या अपराधों का शिकार बनाया। पोलैंड में उन्होंने पोल-राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं और उसके मध्य-पदस्थों को बड़ी क्रूरता से विलुप्त कर दिया। रूमानिया में फरवरी १९४५ में सोवियत विदेश मंत्री जी० एम० विशिस्की ने सीधी सैनिक कार्रवाही का भय दिखकर राजा माइकेल को इस बात के लिये विवश कर दिया कि वह साम्यवादियों द्वारा नियन्त्रित अप्रतिनिधिक सरकार स्थापित करे। बल्गारिया में लगभग उसी समय सोवियत प्रधान सेनापति ने कृषक-संघ (अग्रेरियन यूनियन) को इस बात के लिये विवश किया कि वह अपने सर्वाधिक लोकप्रिय और साहसी नेता डॉ० जी० यम० द्मीत्रोव को दल से बाहर कर दे। हंगरी में फरवरी १९४७ में 'स्माल फ़ार्मर्स पार्टी' के प्रमुख नेता बेला कोवावस को सोवि-

यत सुरक्षा सेना ने गिरफ्तार कर लिया और रूस में निर्वासित कर दिया। सभी चारों जातियों के प्रतिरोध को छिन्न-भिन्न करने के लिये ये कार्रवाइयाँ पर्याप्त थीं।

पांचवें देश चकोस्लोवाकिया का मामला अधिक जटिल था। यहाँ सोवियत सेना ने मई और दिसम्बर १९४५ के मध्य तो साम्यवादियों को बहुत सहायता दी परन्तु फिर वह पीछे हट गयी। मई में अबाध संसदीय चुनाव हुआ और उसमें लगभग ४०% मत लेकर साम्यवादी दल अकेला प्रबलतम दल सिद्ध हुआ। लगभग दो वर्ष तक उनका व्यवहार अपेक्षाकृत वैधानिक रहा और चेकोस्लोवाकिया जैसे १९१८ से १९३८ तक जनतंत्री राज्य रहा था इसी तरह अब भी उसने कानून के आधार पर जनतन्त्री राज्य शीघ्र ही बनने की दिशा में क़दम बढ़ाये। तथापि साम्यवादियों के हाथ में वास्तविक सत्ता उतनी से अधिक थी जितनी की ऊपर से दीखती थी। फरवरी १९४८ में कुछ तो इस कारण कि नया चुनाव होने का था जिसमें निश्चय ही उन्हें कम मत मिलते और कुछ सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण (सोवियत संघ द्वारा 'मार्शल प्लान' की अस्वीकृति और 'कोमिन फार्म' बना लेने के आरण) उन्होंने बलात् संकटावस्था उत्पन्न कर सत्ता छीन लेने का निश्चय कर लिया। उनके विरोधियों की कुछ चालें ग़लत हो गईं जिनके कारण साम्यवादियों ने 'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' (समाज-जनतंत्री दल) का नियंत्रण हथिया लिया और राज्य के अध्यक्ष, प्रेसिडेंट एड्युआर्ड बेनेको वे डरा पाये और इस प्रकार वे वैधानिक रीति से नई सरकार की रचना कर पाये। संकटकाल में सोवियत उप-विदेश-मंत्री ज्भोरीन की प्रेग में उपस्थिति से यह संकेत मिलता है कि यह कार्रवाई मास्को द्वारा आयोजित थी परन्तु यह बात निश्चित रूप से नहीं कहीं जा सकती। साम्यवादियों ने प्रमुख नगरों में मजदूरों की सशस्त्र टुकड़ियाँ युद्ध के लिये तय्यार कीं और सुरक्षा पुलिस पर अपने प्रभाव का पर्याप्त उपयोग किया। इस कार्रवाई को आंशिक रूप से क्रांतिकारी और आंशिक रूप से वैधानिक बताया जा सकता है और इस में सफलता कुछ तो चेकस्लोवाकों के अपने उद्यमों से और कुछ १९४५ से आगे सोवियत निर्देश और सहायता के कारण मिली।

* * *

इन पांच पूर्वी यूरोपीय पिछलग्गू राज्यों में जो शासन पद्धति स्थापित की गई वह सोवियत संघ से बहुत प्रयत्न पूर्वक नकल की गई थी। नये राज्यों के नाम 'समाजवादी राज्य' न रख कर "जनता जनतन्त्र" रखे गये थे; इसका कारण

यह था कि केवल मात्र हथियाने का काम पूरा हो पाया था, और "समाजवाद के निर्माण" के काम अभी आगे पड़े थे । परन्तु साम्यवादी दलों ने सत्ता का प्रयोग मुख्यतया उसी प्रकार और मुख्यतया उसी संस्थात्मक ढाँचे के माध्यम से किया जैसे कि सोवियत संघ में किया जाता था । मन्त्रि मण्डलों, धारासभाओं सचिवालय-कर्मचारिमण्डलों और अदालतों को उनमें प्रमुख पदों पर आसीन दलीय सदस्यों के माध्यम से दल के आधीन रखा गया । सेनाएँ और पुलिस साम्यवादियों के हाथ में थे । समाचार पत्र, पुस्तक-प्रकाशन और प्रसारण का उपयोग, दल समूची आबादी को सिद्धान्तशिक्षा देने के लिये प्रचार के साधन के रूप में, करता था । स्कूलों को बच्चों के मनों को इच्छानुसार ढालने और उनके माता-पिताओं के विरुद्ध करने के राजनीतिक आयुध समझा जाता था । ईसाई साम्प्रदायों और इस्लाम मजहब से संघर्ष होना अनिवार्य था । धार्मिक पूजापाठ की अनुमति थी परन्तु स्कूलों से धार्मिक प्रभाव को लगातार घटाया जा रहा था और प्रौढ़ नागरिकों द्वारा अपने धर्म के पालन को कठिन बनाने के अनेक उपाय किये जाते थे । धार्मिक साम्प्रदायों के नेताओं पर राजनीतिक हलचल में भाग लेने का आरोप लगा दिया जाता था । कइयों पर खुले मुकदमे चलाये गये और उन्हें मृत्युदण्ड दे दिया गया, दूसरों को उनके पदों से च्युतकर बन्दी बना लिया गया ।

साम्यवादियों ने सोवियत अनुभव के आधार पर केन्द्रीकृत आर्थिक आयोजन का कार्यक्रम शुरू किया । प्राथमिकता भारी उद्योगों को दी गई और मजदूरों और किसानों को वास्तविक से कम वेतनों पर काम करने के लिये बाधित कर इन उद्योगों का व्यय उठाया गया । ट्रेड यूनियनें औद्योगिक जन शक्ति को संसज्जित करने और श्रमिक अनुशासन को लागू करने के साधन थीं । उनका प्रयोजन मजदूरों के नियोक्ता मालिकों के विरुद्ध मजदूरों के हितों की रक्षा करना नहीं रखा गया था अपितु मजदूरों पर नियोक्ता-राज्य की अभिलाषा को आरोपित करने के लिये उन्हें बनाया गया था । हितकारी सेवाकार्यों की एक विस्तृत सुसम्पन्न रचना खड़ी कर दी गई थी परन्तु व्यवहार में श्रमिकों के लिए इसका मूल्य इस बात पर निर्भर था कि प्रत्येक विशिष्ट अवसर पर साम्यवादी दल क्या निश्चय करता है । कभी-कभी तो दल, जब बहुत उदार होता था तो मजदूरों को बड़ी महत्वपूर्ण रियायतें प्रदान कर देता था और कभी-कभी यह मज़दूरों को भूखा रहने का उपदेश देता था । मजदूर ट्रेड यूनि-यनों के अथवा दल के नेताओं पर प्रभाव डालें—इस बात का तो कोई प्रश्न

ही नहीं था। किसान व्यय का अपना भाग बनावटी कम दामों पर कृषि-उपज की बाधित अदायगी करके देते थे और सरकार इन पदार्थों को उपभोक्ताओं के हाथ, भारी लाभ लेकर बेच देती थी। १९४९ से किसानों पर इस बात के लिए और अधिक दबाव डाला गया कि वे सामूहिक खेतों में सम्मिलित हों। इसके उपाय, विशिष्ट करारोपण से लेकर शारीरिक शक्ति के प्रयोग और अनिच्छुक किसानों की गिरफ्तारी तक, विविध थे। द्रुततम प्रगति बल्गारिया में हुई और सबसे कम हुई रूमानिया में।

* * *

पांचों देशों के लोगों को ही केवल ऐसे प्रशासनों के आधीन नहीं रखा गया जो सोवियत प्रशासन की नकल थे; उनके देशों पर भी सोवियत संघ का नियंत्रण रहा और संघ ने उनका उपयोग अपने स्वार्थसाधन में किया। आर्थिक सचिवालयों, पुलिस और सेनाओं के साथ "सोवियत सलाहकार" सम्बद्ध किये हुए थे, इनको जैसे वे उचित समझें, वैसे, हस्तक्षेप करने का अधिकार था। इन सलाहकारों में कुछ तो रूसी थे, शेष वे रूसी नागरिक थे जो देश में पैदा हुए थे—जैसे कि वे बल्गारियाई जो निर्वासन के अपने बीस वर्ष सोवियत संघ में बिता चुके थे। सब उदाहरणों में सबसे अधिक प्रभावशाली उदाहरण मार्शल कोन्स्तान्तिक रोकोसोव्स्की का है; यह द्वितीय विश्व युद्ध में लालसेना का एक प्रमुख सैनिक नेता था, पोल माँ-बाप की सन्तान था और १९४९ में पोलैंड में युद्ध-मन्त्री नियुक्त किया गया था और पोल—साम्यावादी—दल की पोलितब्यूरो का सदस्य बन गया था।

स्वयं साम्यवादी दलों का संगठन भी बिल्कुल सोवियत संघ के साम्यवादी दल की तरह ही किया गया था। उनके 'अधिनियम' भी सोवियत साम्यवादी दल के अधिनियमों के वास्तविक अनुवाद ही थे। १९४० की दशी की पिछली अवधि में "व्यक्तित्वपूजा" उच्चतम शिखर पर थी और प्रत्येक पिछलग्गू दल का अपना 'छोटा स्तालिन होना ही था' (चेकोस्लोवाकिया में गाटवाल्ड, हंगरी राकोसी, पोलैंड में ब्येरुत; बल्गारिया में पहले दिमीत्रोव और बाद में चेरेवेन्कोव, रूमानिया में घिओर्घियु-देज़)। मास्को से निर्देश मिलने पर उसके अनुसार दलों को छँटनी भी करनी पड़ती थी। सोवियत और युगोस्लावियाई साम्यवादियों में १९३८ में हुए उस झगड़े के बाद जिसके कारण कोमिनफार्म ने मार्शल टिटो को दलच्युत कर दिया था—पिछलग्गू दलों में 'राष्ट्रीय स्खलन वाद' के अपराधियों की खोज शुरू हो गई। समुचित बलि [illegible] [illegible] :

हंगरी में राज्क, बल्गारिया में कोस्टोव, चेकोस्लोवाकिया में क्लिमेंटिस, रूमानिया में पैट्राश्कानू, पोलैंड में गोमुल्का। पहले चार को मृत्युदण्ड दे दिया गया परन्तु गोमुल्का इतना भाग्यशाली रहा कि उसको केवल पदों से च्युत कर कुछ समय के लिए अपेक्षाकृत सह्य स्थिति में क़ैद रखा गया। पहले चार के अभियोग को सच-झूठ के जिस अव्यवस्थित मिश्रण में लपेट कर रखा गया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि उनका प्रमुख पाप यह था कि उन्होंने अपने देश पर रूसी प्रभुत्व का किसी सीमा तक विरोध किया था अथवा उसकी आलोचना की थी। १९४९-५० की "राष्ट्रीयतावादियों" की छँटनियों के बाद १९५१-५२ में फिर छँटनियाँ की गईं—ये छँटनियाँ चेकोस्लोवाकिया और हंगरी में अधिक कठोरता से की गईं और इनके शिकारों में यहूदियों का अनुपात बहुत अधिक था! इनका सम्बन्ध, स्पष्ट ही, स्तालिन के जीवन के अन्तिम वर्ष में सोवियत संघ में चले सामी (जाति) विरोधी अभियान से था। इसका एक प्रमुख शिकार चेकोस्लावकियाई साम्यवादी दल का महासचिव 'स्लान्स्की' था। १९४९ तथा १९५२ के मध्य चेकोस्लावकियाई तथा हंगरियन साम्यवादी दलों की केन्द्रीय समितियों के आधे सदस्य लुप्त हो गये।

इन वर्षों में पिछलग्गुओं की आर्थिक योजनाओं की रूपरेखाएँ इस प्रयोजन को ध्यान में रख कर बनाई गईं कि प्रत्येक देश में उद्योग की सभी प्रमुख शाखाओं में उत्पादन हो सके और प्रत्येक देश को स्वतन्त्र रूप से सोवियत संघ पर निर्भर बना दिया जाय। इनमें अतिव्याप्ति इतनी अधिक हो गई थी कि बेतुकापन आ गया था। जिन उद्योगों के लिये परिस्थिति अनुकूल भी नहीं थी, उन्हें भी भारी व्यय पर, स्थापित कर दिया गया और सोवियत संघ से, अलाभकर मूल्यों पर, कच्चा माल और मशीनें आयात कर उनको स्थापित रखा गया। अधिक बुद्धिमता की बात तो यह होती कि प्रत्येक देश उद्योगों की उन शाखाओं में विशिष्ट बनता जिनकी ओर इसका झुकाव होता अथवा जिनमें उसे कच्चे माल अथवा परिवहन की विशेष सुविधाएँ प्राप्त होतीं। परन्तु स्तालिन नहीं चाहता था कि पिछलग्गुओं में किसी प्रकार का श्रम-विभाजन होता; इसका कारण यह था कि सम्भव है इससे पिछलग्गुओं में आपस में अधिक घना सहयोग हो जाता, उनकी आर्थिक अवस्थाएँ आंशिक रूप से परस्पर पूरक तो थीं ही। आर्थिक लाभ कुछ भी थे, राजनैतिक दृष्टि से यह बात अमान्य रही। १९३० से १९३९ तक की अवधि में जैसे मध्य एशियाई गणराज्यों को एक दूसरे से अलग रखा गया था वैसे ही पूर्वी यूरोपीय पिछलग्गू देशों को अलग-अलग रखना

परन्तु उनको व्यक्तिशः मास्को से सम्बद्ध रखना आवश्यक समझा गया। व्यापारिक सम्बन्धों के विषय में यह बात थी कि पिछलग्गुओं को विवश किया जाता था कि वे सोवियत माल का ऊँचा मूल्य दें और अपने निर्यात माल के लिए उपहासास्पद कम मूल्य स्वीकार करें। इसका सबसे अधिक प्रभावशाली उदाहरण पोल-कोयले का है; १९४५ में डेनमार्क ने इसके लिये जो मूल्य देने के लिये कहा था वह सोवियत संघ को उसके $\frac{1}{10}$ मूल्य पर बेचना पड़ा (और डेनमार्क को इसकी बिक्री के लिये मना करना पड़ा)। सुगन्धों का एक बहुमूल्य घटक बल्गारिया का गुलाब-जल सोवियत संघ के हाथ बहुत कम मूल्य पर बेचना पड़ा और सोवियत संघ ने उसको बड़े ऊँचे दामों पर विश्व के बाजारों में बेचा। हंगरी और रूमानिया में स्थापित 'संयुक्त कम्पनियों' का मामला एक विशेष उदाहरण है। सोवियत सरकार ने इस आधार पर कि वे जर्मन-सम्पत्ति थे—इन देशों में स्थित कुछ उद्योगों पर अधिकार कर लिया था। वही उद्योग 'संयुक्त कम्पनियों' में सोवियत सरकार का अंशदान बने। रूमानिया तथा हंगरी की सरकारों के अंशदान उसी क्षेत्र के दूसरे उद्योग बने। यह मान लिया गया था कि कम्पनियाँ दोनों देशों के लाभ के लिये चलाई जायेंगी परन्तु वस्तुतः इनकी व्यवस्था सोवियत सरकार ने अपने निजी लाभ की दृष्टि से की। इन कम्पनियों में दोनों देशों में विमानपरिवहन का एकाधिकार, रूमानिया में तैल तथा काष्ठ-उद्योगों का पर्याप्त भाग और हंगरी में बौक्साइट उद्योग का पर्याप्त भाग सम्मिलित थे। स्तालिन के जीवनकाल के अन्तिम वर्षों में सोवियत संघ का जो प्रभुत्व पूर्वी यूरोप पर छाया रहा उसे मार्क्सवाद के परिचित वाक्यांश "उपनिवेशी शोषण" से ही प्रकट किया जा सकता है।

तथापि इस बात को ध्यान में लाना रोचक प्रतीत होगा कि स्तालिन का यह इरादा कभी प्रतीत नहीं हुआ कि वह जैसे १९४० में तथा फिर १९४४-१९४५ में बाल्टिक राज्यों को सोवियत संघ में मिला चुका था वैसे पूर्वी यूरोपियन राज्यों को भी सोवियत संघ में मिलाना चाहता था। बाल्टिक राज्यों और पूर्वी यूरोपीय राज्यों में अन्तर यह था कि बाल्टिक राज्य पहले कभी रूसी साम्राज्य के अंग रह चुके थे। गैर-रूसी जार्जियाई स्तालिन का, जो जारों की जायदादों का, अपने आपको अधिकारपूर्ण उत्तराधिकारी समझता था, यह असाधारण संकुचित और 'देशभक्ति पूर्ण' रुख बेसाराबिया पर क़ब्जा करने (रूमानिया में जब साम्यवादी पूर्णतया अपना अधिकार कर चुके तब भी इसे रूमानिया को नहीं लौटाया गया) की घटना से और ल्याओतंग प्रायद्वीप को लेने के समर्थन में

तथा चीन की (राष्ट्रीय) सरकार के साथ की गई अपनी १९४५ की सन्धि में दो बड़े मंचूरियाइ रेल पथों पर कब्ज़े के समर्थन में, १९०४ के रूसी-जापानी युद्ध से पूर्व के रूसी अधिकारों का हवाला देने से, स्पष्ट हो जाता है।

* * *

मजदूरों और किसानों के जीवनस्तर को निम्न रखकर धनयुक्त किये गये बाधित औद्योगीकरण की नीति का पूर्वी यूरोप में स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् कई महीने तक पालन किया गया। इसी दिशा में एक नया उपाय चेकोस्लोवाकिया में मई १९५३ में 'मद्रासुधार' नाम से किया गया—इसका प्रयोजन दक्ष मजदूरों की बचत को ज़ब्त करना तथा समष्टिरूप से देश के सभी निवासियों की क्रयशक्ति को घटाना था। इस नयी चोट से उत्पन्न रोष ने और शायद स्तालिन की तथा चेकोस्लोवाकिया के 'छोटे स्तालिन' क्लिमेन्ट गाटवाल्ड की लगभग एक साथ हुईं मृत्युओं के कारण आई साहसिकता ने मिलकर चेक-औद्योगिक नगर प्लत्ज़ेन में एक अल्पकालीन परन्तु प्रबल विस्फोट कर दिया; जहाँ मजदूरों की भीड़ ने कुछ समय तक नगरभर को हथियाये रखा, सार्वजनिक भवन क़ब्ज़े में कर लिये और केवल अपनी आर्थिक अवस्थाओं में सुधार की ही माँग नहीं पेश की अपितु राजनैतिक स्वतंत्रता की माँग भी पेश कर दी। दो सप्ताह पश्चात् पूर्वी बर्लिन में १७ जून १९५३ का विद्रोह हुआ। यह विद्रोह समूचे पूर्वी जर्मनी के मजदूर वर्ग का भारी विप्लव बन गया, इसमें स्पष्ट शब्दों में न केवल आर्थिक सुधारों की ही माँग प्रकट की गई अपितु जनतंत्री शासन और जर्मनी के एकीकरण की मागें भी स्पष्ट प्रकट कर दी गईं। विप्लव को सोवियत सेना ने दबा दिया। इस समय सुरक्षा पुलिस भीड़ को नियंत्रित करने में पूरी तरह असफल रही—शायद मास्को स्थित सम्पूर्ण सोवियत साम्राज्य के सुरक्षा-प्रमुख लैंव्रेन्ती बेरिया के पतन के तात्कालिक कारणों में से एक कारण यह भी हो। इसका फिर यह परिणाम भी हुआ कि सोवियत सुरक्षा पुलिस के अधिकार कम कर दिये गये और पूर्वी यूरोपीय साम्यवादियों को मास्को से यह निर्देश मिले कि वे अपनी प्रजा के साथ जरा नरमी बर्तें। यहाँ से ही कुछ पिछलग्गू देशों में 'नया दौर' शुरू हुआ।

पहले पहल और अत्यन्त प्रभावशाली परिवर्तन हंगरी में हुए। 'छोटे स्तालिन' मात्यास राकोसी को विवश होकर प्रधान मंत्री का पद छोड़ देना पड़ा यद्यपि वह साम्यवादी दल का प्रथम सचिव बना रहा। उसके उत्तराधिकारी प्रधान मंत्री इम्रे नागी ने सुधारों का कार्यक्रम चालू किया। कृषि के सामूहिकीकरण को

रोक दिया गया, वर्तमान सामूहिकों को छोड़ने की छूट किसानों को देदी गई और यदि सदस्यों की बहुसंख्या चाहे तो सामूहिक खेतियों को भंग करने की भी अनुमति दे दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सामूहिकों के सदस्यों में से एक तिहाई सदस्य सामूहिकों को छोड़ बैठे और १० प्रतिशत सामूहिक भंग-कर दिये गये। उद्योगीकरण की रफ़्तार घटा दी गई और उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन को अधिक प्राथमिकता दी जाने लगी। हजारों राजनीतिक क़ैदी छोड़ दिये गये और घरों से निर्वासितों को घर लौट आने की अनुमति दे दी गई। चेकोस्लोवाकिया में राजनीतिक आतंक में तो कोई दृश्य कमी नहीं हुई परन्तु आर्थिक सुविधाएँ वही दी गईं जो हंगरी में दी गई थीं और उन को अधिक प्रभावी रूप में क्रियान्वित किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि चेक और स्लोवाक लोगों का जीवन-स्तर नियत रूप से ऊंचा होता गया; १९५० के दशक के अन्त में उनकी आर्थिक स्थिति पश्चिमी यूरोप के लोगों की आर्थिक स्थिति जैसी हो गई। रूमानिया में आर्थिक रियायतें बहुत कम दी गईं और उनको बहुत कम चतुराई से कार्यान्वित किया गया। पोलैंड में आर्थिक सुधार तो 'नहीं' के बराबर ही हुआ परन्तु प्रेस और प्रकाशनों में आलोचना की अनुमति अधिक मात्रा में दी गई। केवल बल्गारिया में ही राजनीतिक आतंक तथा आर्थिक तंगी में वस्तुतः कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

* * *

१९५५ के वसन्त में उपभोक्ता वस्तुओं के वर्धित उत्पादन से सम्बद्ध जी० एम० मालेन्कोव के मास्को में पतन से राकोसी को यह अवसर मिल गया कि वह नागी को हटा दे और उसके स्थान पर अपने ही किसी व्यक्ति को प्रधान-मंत्री पद पर अधिष्ठित कर दे। परन्तु वह स्तालिन युग के तरीकों को नहीं अपना सका। सोवियत दल के नये नेता नि० ख्रुश्चेव का दृढ़ निश्चय था कि वह युगोस्लाविया को विरोधी बनाने की स्तालिन की भूल को सुधार दे। प्रेसिडेण्ट टीटो से समझौता करने के लिये यह आवश्यक था कि वह टीटो के वास्तविक अथवा तथाकथित मित्रों को अपने-अपने देशों में पीड़ित करने वाले पिछलग्गू नेताओं की नीति में व्यापक परिवर्तन करा दे। ख्रुश्चोव ने इस बात पर आग्रह किया कि 'नये दौर' की अवधि की रियायतों को बनाये रखा जाय। फरवरी १९५६ में हुई सोवियत संघ के साम्यवादी दल की २० वीं कांग्रेस में उसने गुप्त-अधिवेशन में अपना प्रसिद्ध भाषण दिया, इसमें उसने स्तालिन के अपराधों और मूर्खताओं की निन्दा की। भाषण की जानकारी पूर्वी यूरोप के

साम्यवादी दलों में बड़ी तेजी से फैल गयी और १९५६ की ग्रीष्म ऋतु में (संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार द्वारा मूलपाठ का भाषान्तर प्रकाशित कर देने के बाद) दल के सदस्यों से बाहरी व्यक्तियों को भी इसका ज्ञान हो गया।

२० वीं कांग्रेस के तुरन्त पश्चात् पोलैंड के 'छोटे स्तालिन' बोलेस्ला ब्येरुत की मृत्यु हो गई। वसन्त ऋतु में स्तालिन के कई प्रमुख पोल अनुयायी अपने पदों से हटा दिये गये। मई में प्रेग तथा ब्रातिस्लावा विश्वविद्यालयों के छात्रों ने अपनी कई माँगें प्रस्तुत कर दीं—ये न केवल उनके भौतिक तथा व्यावसायिक दशाओं के सुधार के लिये ही थीं अपितु इनमें राजनीतिक स्वतंत्रता में वृद्धि की माँग भी थी। यद्यपि माँगें स्वीकार तो नहीं हुईं परन्तु उनसे हलचल मच गई। जून में पोज्नान के मजदूरों ने प्ल्ज़ेन और बर्लिन का अनुकरण किया और सारे नगर पर अधिकार कर लिया। इन्होंने आर्थिक और राजनीतिक माँगे पेश कीं। पोल सेना ने थोड़े ही रक्तपात के बाद विप्लव को शान्त कर दिया और पोल-सरकार ने खुलेआम इस बात को स्वीकार किया कि मजदूरों के असन्तोष का कारण सरकार की भूलभरी नीतियाँ थीं—इस कथन का तात्पर्य यह निकला कि उसी समय सोवियत संघ में जो यह सम्मति प्रकट की गई थी कि विप्लव विदेशी 'साम्राज्यवादियों' के हस्ताक्षेप के कारण हुआ था—उसका निराकरण हो गया। जून में बुडापेस्ट में पेतोयफ़ी क्लब नाम के एक बौद्धिक विवाद समुदाय ने कई आवेशपूर्ण बैठकें कीं। क्लब में राकोसी प्रशासन पर जो प्रबल प्रहार किये गये उनके बाद आलोचकों की गिरफ्तारियाँ तो नहीं हुईं परन्तु राकोसी को दल के प्रथम सचिव के पद से हटा दिया गया। यह बात १८ जुलाई १९५६ को हुई। परन्तु उसका उत्तराधिकारी एर्नू गेरू बना जो उसका पहला घनिष्ठ सहयोगी था और उसकी सभी क्रूरतम नीतियों में साथी रहा था।

१९५६ की ग्रीष्मऋतु में पूर्वी यूरोप में जो हलचल मची वह दर्शनीय थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता की और सोवियत संघ से आज़ाद होने की—दोनों की लालसा साम्यवादी दलों तक में अनुभव की जा रही थी और सबसे अधिक तो पोलैंड तथा हंगरी में थी—परन्तु कुछ सीमा तक चेकोस्लोवाकिया और रूमानिया में भी। और अभी तक अधिक कठोरता से दमन किये जा रहे बल्गारिया तक में भी कुछ-कुछ अनुभव की जा रही थी। सोवियत नेताओं का रुख डाँवाडोल था। ख्रुश्चोव का रुख और लक्ष्य तो यह प्रतीत होता है कि युगोस्लाविया से समझौता हो जाय और अनुगामी राज्यों में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर

दी जाय कि जिसमें साम्यवादी दल जरा नरम नीति का अवलम्बन करके वस्तुतः लोकप्रिय हो जायँ और सोवियत संघ अनुगामी राज्यों पर अपनी पकड़ को जरा शिथिल करके उन राज्यों की जनता का मित्र वन सके । साथ ही साथ वह पोज्नान वलवे से डरा हुआ भी था और पूर्वी यूरोप पर यूगोस्लाविया के प्रभाव के सम्भावित परिणामों से भी उसे भय था।

अक्तूबर १९५६ में संकट स्थिति उत्पन्न हो गई। पोल-साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति ने निश्चय किया कि सोवियत मार्शल रोकोसोव्स्की को अपनी पोलितव्यूरो का सदस्य पुनर्निर्वाचित न किया जाय और दल के प्रथम सचिव का पद व्लादीस्लाव गोमुल्का को दिया जाय; इस पर १९४८ में 'राष्ट्रीय स्खलनवाद' का कलंक लगाकर अलग कर दिया गया था और यह १९५५ में जेल से छूट चुका था। दल के भीतर, विशेषकर राजधानी वारसा में और तरुण संतति में सुदूरव्यापी जनतंत्री सुधारों के लिए एक प्रवल आन्दोलन खड़ा हो गया। इस आन्दोलन ने गोमुल्का को प्रबलवेग से सत्तारूढ़ कर दिया। वर्तमान प्रथम सचिव एडवार्ड ओचाब ने प्रवाह के साथ वह कर वहुमत का साथ देने का निर्णय किया और उसके अधिकांश सहयोगियों ने उसका साथ दिया। जिस समय पोल-दल की केन्द्रीय समिति की वह महत्त्वपूर्ण वैठक हो रही थी उसी समय दूसरे सोवियत नेताओं सहित ख्रुश्चोव वारसा में पहुँच गया। कुछ समय तक यह लगता रहा कि पोलैंड-स्थित रूसी सेना में और पोल-सेना तथा सुरक्षा पुलिस में (इन दोनों की निष्ठा गोमुल्का और ओचाब में विद्यमान थी) युद्ध छिड़ जायगा। परन्तु ख्रुश्चोव ने गोमुल्का को स्वीकार कर लेने और उसके आने से अवश्यम्भावी सुधारों से सहमत होने का निश्चय कर लिया और संकट टल गया।

हंगरी में कुछ दिन वाद ऐसी ही संकट-स्थिति उत्पन्न हुई। परन्तु एर्नू गेरू में न तो वैसी देशभक्ति थी, न उतनी सूझ-बूझ ही थी जितनी कि ओचाव में थी। उसने सुधार करना अस्वीकार कर दिया और प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने का आदेश दे दिया। इम्रे नागी को नाममात्र का प्रधानमंत्री घोषित कर दिया गया परन्तु उसको पहले-पहल कोई वास्तविक अधिकार नहीं दिया गया और सोवियत सेना (इसको गेरू ने बुलाया अथवा मास्को के आदेश पर स्वयं हा इसने कार्रवाई की—इस वात का निर्णय नहीं हो सका) हंगरी के सशस्त्र मजदूरों और छात्रों तथा हंगरी की सेना की कुछ टुकड़ियों से भिड़ गई। इस हंगरी-सोवियत युद्ध की पहली मंजिल हंगरी की विजय पर समाप्त हुई। युद्ध-

विराम सन्धि हो गई, नागी को वास्तविक सत्ता मिल गई; इसने अपनी सरकार बनाई जिसमें समाजवादी और किसानदलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे; इस सरकार ने वास्तविक जनतंत्री स्वतंत्रता और अन्तर्राष्ट्रीय नीति में तटस्थता बरतने का कार्यक्रम निर्धारित किया। परन्तु हंगरी की यह स्वतंत्रता केवल एक सप्ताह तक ही रह सकी। ४ नवम्बर १९५६ को सोवियत सेनाने, जिसको कई दिन पहले से कुमुक पहुँचाई जा रही थी, व्यापक आक्रमण शुरू कर दिया। बुदापेस्ट पर क़ब्ज़ा कर लिया गया और सशस्त्र मजदूरों के अन्तिम गढ़ों—सीपेल तथा दुनापेंटेल पर एकाएक धावा बोलकर उन्हें हथिया लिया गया। मजदूर कौंसिल के नेताओं को प्राणदण्ड दे दिया गया और नागी की सरकार के एक कार्यकर्त्ता तथा उससे विश्वासघात करने वाले एक साम्यवादी जानोस कादार के आधीन एक कठपुतली सरकार बना दी गई। स्वयं नागी को छल करके पकड़ लिया गया और लगभग दो वर्ष तक जेल में रखकर फिर प्राणदण्ड दे दिया गया। यह तो कोई नहीं जानता कि हंगरी के इस देशभक्त और वयोवृद्ध अनुभवी साम्यवादी को क्या-क्या शारीरिक अथवा मानसिक यातनाएँ भुगतनी पड़ीं, परन्तु यह निश्चित है कि उसने न तो अपना कोई दोष स्वीकार किया और न अपने मित्रों और देश के साथ विश्वासघात ही किया।

* * *

पोलैंड और हंगरी में हुई घटनाओं से दो महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट हो गईं। पहली बात तो यह है कि मजदूर वर्ग ने १९५५-१९५६ की अवधि के साम्यवादी नेताओं और उनकी नीतियों को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया था और उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की माँग की थी। ये राज्य तो मजदूरों के नाम पर शासन करने का दावा करते थे परन्तु मजदूर इनको सोवियत उपनिवेशी प्रशासन के और एकदलीय अत्याचार के उपकरण समझते थे। दूसरी बात यह है कि बौद्धिक युवावर्ग राज्यों के विरुद्ध एक हो गया था। इस बात का महत्त्व इस बात से और बढ़ जाता है कि १९५६ के छात्रों में अधिक संख्या उन मजदूरों और गरीब किसानों के बच्चों की थी जो युद्ध-पूर्व के प्रशासनों के आधीन रहने से उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके थे। राज्यों की एक निश्चित सफलता यह रही थी कि इन्होंने माध्यमिक स्कूलों और कालेजों में अपेक्षया ग़रीब वर्गों के युवाओं का प्रवेश सुलभ कर दिया था। ये युवा अपने सर्वस्व के लिये राज्य के आभारी थे। साम्यवादी नेताओं को आशा थी कि इस प्रकार वे एक नये 'मेहनतकशों के बौद्धिक वर्ग' का निर्माण कर लेंगे और यह नया

बौद्धिक वर्ग एकाधिकारवादी प्रशासन को मस्तिष्क तथा सोवियत उपनिवेशी पद्धति को प्रशासक संवर्ग प्रदान करेगा। परन्तु इन तरुण श्रमिकों तथा किसानों ने केवल तथ्यों और दक्षताओं को ही नहीं सीख लिया था, उन्होंने विचार भी सीख लिये थे और यह भी जान लिया था कि कैसे सोचते हैं। उन्होंने साम्यवादियों की धूर्त्तताओं और प्रवञ्चनाओं को ताड़ लिया था और वे अपने लोगों के कष्टों से पहले से कहीं अधिक परिचित हो गये थे। इस सम्बन्ध में वस्तुतः उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती उन 'बुर्जुआ बौद्धिकों' का अनुसरण किया था जिन्होंने युद्ध-पूर्व की पोलैंड की और हंगरी की तानाशाहियों के विरुद्ध जनतंत्री आन्दोलन का नेतृत्व किया था। १९५६ में पोलैंड और हंगरी के शिक्षित युवाओं ने ही क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेतृत्व किया। साम्यवादियों के लिये यह एक भयंकर शिक्षा थी, न केवल पोलैंड और हंगरी में ही अपितु स्वयं सोवियत संघ में भी।

* * *

१९५७ में पोलैंड ने पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्रता का उपभोग किया। पहले-पहल मार्क्सवाद के आधारभूत सिद्धान्तों तक पर भी सभाओं और प्रकाशनों दोनों में सार्वजनिक वाद-विवाद हुए। 'संशोधनवादियों' ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लेनिन और स्तालिन के मताग्रहों पर संदेह प्रकट किया तथा दूसरों ने मार्क्स तक की भी आलोचना की। ग्रीष्म ऋतु तक सार्वजनिक रूप से ऐसे वादविवाद रोक दिये गये, परन्तु इन विषयों पर निजी वार्तालाप १९६० तक भी हो सकते थे और इनके सम्बन्ध में पुलिस के मुखबिरों अथवा दमन का भय नहीं था। कारखानों में मजदूर कौंसिलें संगठित की गईं परन्तु धीरे-धीरे उनके अधिकार छिनते गये और १९५८ तक वे प्रायः नगण्य हो गईं। कैथोलिक चर्च में सरकार का लगभग कुछ भी हस्ताक्षेप नहीं रहा और स्कूलों में धार्मिक शिक्षा दी जाने लगी। परन्तु १९५९ से साम्यवादी दल ने जवाबी हमला शुरू कर दिया और १९६१ तक बहुसंख्यक स्कूलों में धार्मिक शिक्षा बन्द कर दी गई। तो भी पोलैंड का चर्च १९६१ में, १९३९ के बाद के किसी भी समय से अधिक स्वतन्त्र था और पूर्वी यूरोप के शेष सभी देशों से अधिक स्वतंत्र था। १९५६ की घटनाओं से सबसे अधिक लाभ किसानों ने उठाये। सामूहिक खेत तो लगभग रहे ही नहीं थे और किसानों को अपनी उपज का मूल्य पहले से अधिक मिला। १९५० तक ऐसे चिन्ह दिखाई पड़ने लगे कि मानो सरकार सामूहिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ने की योजना बना रही हो, परन्तु यह

लगा कि मानो पद्धतियाँ नरम होंगी और रफ्तार धीमी रखी जायगी। ख्रुश्चोव ने सोवियत संघ में किसानों को, उनकी स्थिति में जो सुधार प्रदान किये थे, उनसे ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता था कि पोलैंड में बर्बर दबावों का प्रयोग किया जायगा, तथापि, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पोलों ने १८५६ में जो आशाएँ लगाई थीं १९६१ तक उनमें से मुख्य-मुख्य तो सभी मर गई थीं, परन्तु इसका मुख्य कारण सोवियत हस्तक्षेप नहीं था । स्वयं गोमुल्का सदा कट्टर साम्यवादी रहा आया था । जिन लोगों ने उसे तेजी से सत्तारूढ़ किया था उनकी तरह वह राजनीतिक आजादी को मानने वाला नहीं था। वह तो साम्यवादियों की एक दलीय तानाशाही को मानता था । वह यह भी मानता था कि सोवियत विदेश नीति का समर्थन बिना शर्त्त किया जाना चाहिये। परन्तु उसको इस बात पर आपत्ति थी कि पुलिस-आतंक का पूरा प्रयोग किया जाय और पोल-प्रशासन के घरेलू मामलों में रूस का हस्ताक्षेप हो; इन दो विषयों में वह अब १९६१ में भी अपनी बात मनवा रहा था।

शेष पिछलग्गू राष्ट्र १९५३ के पश्चात् तीन वर्गों में बँट गये।

पहले वर्ग में चेकोस्लोवाकिया और बल्गारिया थे। इन दोनों ही देशों में साम्यवादी दल सुव्यवस्थित थे और उन्हें आबादी के पर्याप्त अल्पसंख्यकों का समर्थन प्राप्त था। चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी एक सफल आर्थिक नीति के द्वारा किसी सीमा तक लोकप्रिय हो गये थे—इस आर्थिक नीति द्वारा १९५६ से लोगों का जीवनस्तर ऊँचा हो गया था। बल्गारियाई साम्यवादियों की सफलताका कारण विपरीत पद्धति—लगातार बर्बर दमन की पद्धति था।

दूसरे वर्ग में रूमानिया, हंगरी और पूर्वी जर्मनी थे। इन तीनों ही देशों में लोगों का एक भारी बहुमत साम्यवादियों से घृणा करता था; दल के सदस्यों की निष्ठा तक सन्देहास्पद थी। साम्यवादी केवल इसी कारण सत्तारूढ़ रहे कि साधारणतया लोग समझते थे कि यदि कोई विद्रोह हुआ तो जैसे हंगरी की राज्य क्रान्ति का दमन कर दिया गया वैसे ही इसका भी सोवियत सशस्त्र सेना द्वारा तत्काल निर्दयतापूर्वक दमन कर दिया जायगा।

तीसरे वर्ग में अल्बानिया है। इस प्रमुखतया मुस्लिम किसान आबादी वाले बहुत ही अधिक पिछड़े देश पर १९४५ से इसके 'छोटे स्तालिन' अनवर होक्सहा के नेतृत्व में मुट्ठीभर साम्यवादियों का प्रभुत्व चला आया है। उसकी सफलता का कुछ कारण तो निर्मम आतंक और कुछ युगोस्लाविया के प्रति राष्ट्रीय शत्रुता का चतुराई भरा शोषण रहा है। संसारभर के अल्बानियाइयों का एक

तिहाई भाग युगोस्लाविया में बसा हुआ है और उसको लेकर एक अकेली अल्बानियाई पितृ-भूमि बना लेने की लालसा प्रबल बनी रही है। मास्को और बेल्ग्रेड में जो मतभेद १९४८ में हुआ वह होक्सहा के लिये वरद सिद्ध हुआ। इससे उसने यह लाभ उठाया कि अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी कोची द्ज़ोद्ज़े को 'टीटो का ऐजन्ट' बता कर उससे अपना पीछा छुड़ा लिया और सभी उदार नीतियों को 'टीटोवाद' बता कर उनका निषेध कर दिया। ख्रुश्चोव की समझौता नीति से वह परेशान था। अल्बानिया में 'नया दौर' कभी नहीं आया : स्तालिनवादी पद्धतियाँ कभी नहीं छोड़ी गईं। जब चीन ने ख्रुश्चोव की शांतिमय सह-अस्तित्व' की नीति के विरोध का नेतृत्व किया तब होक्सहा द्वारा चीन का पक्ष ले लेना उसके पिछड़े रिकार्ड के सर्वथा अनुकूल ही था। अल्बानिया का अलगाव भी, (क्योंकि अल्बानिया की सीमा न तो सोवियत संघ की सीमा से मिलती हैं न किसी पिछलग्गू की सीमा से ही मिलती हैं) भले ही अल्बानियाई साम्यवादियों के लिये भय का सम्भाव्य स्रोत रहा हो, सामर्थ्य का कारण था। अल्बानिया को अपने विद्वेषी युगोस्लाविया, यूनान और इटली के विरुद्ध रूस की आर्थिक और राजनीतिक सहायता की आवश्यकता थी, परन्तु साथ ही इसको सीधा सोवियत दबाव भी आसानी से छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता था।

* * *

१९५६ के पश्चात् पिछलग्गू राज्यों के आपसी तथा उनके सोवियत संघ से अलग-अलग आर्थिक सम्बन्ध भी बदल गये। सोवियत सरकार ने व्यापार में अनुचित दाम लाद देने की अपनी आदत छोड़ दी। कोयले के दामों के सम्बन्ध में पोलों की जो शिकायत थी उसे दूर कर दिया गया और इसका प्रभाव दूसरे पिछलग्गू राज्यों पर भी पड़ा। सोवियत-रूमानिया और सोवियत-हंगरियन 'संयुक्त कम्पनियों' का कारोबार समेट लिया गया, इनमें की सोवियत 'सम्पत्तियों' को किस मूल्य पर बेचा गया यह ज्ञात नहीं है। औद्योगिक योजनाओं की कृत्रिम आर्थिक आत्मनिर्भरता भी छोड़ दी गई। अर्थव्यवस्थाओं का आपस में समन्वय करने की कोशिशें की गईं और प्रत्येक उन शाखाओं में विशिष्ट बनने के लिये उत्साहित किया गया जिसके लिये वह सुष्ठुतया उपयुक्त था। पूर्वी-यूरोपीय देशों में परस्पर आर्थिक सहयोग को अब ना पसन्द नहीं किया जाता था। यह कहना तो अतिशयोक्ति अथवा असह्य होगा कि समन्वय की उत्तरदायी संस्था—'कौंसिल फॉर म्युचुअल इकोनोमिक एड' (पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद्) सोवियत हितों को प्रथम स्थान नहीं देती है। तथापि इस

परिणाम पर पहुँचना उचित प्रतीत होता है कि यह अब अनघड लालच से नहीं, सोवियत प्रबुद्ध आत्महित से प्रेरणा लेकर कारवाई करता है। समन्वय अब अल्पविकसित देशों के साथ व्यापार और ऋणों के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यों के बँटवारे तक विस्तृत हो गया है। इन्डोनेशिया, गिनी, युनाइटेड अरब रिपब्लिक (संयुक्त अरब गणराज्य) सरीखे देशों में सोवियत आर्थिक तथा राजनीतिक हितों को बढ़ावा देने में चेकोस्लावकिया और पूर्वी जर्मनी ने एक उपयोगी सहायक भूमिका अदा की है।

१९६० में सोवियत विवरणकारों ने सोवियत गुट्ट के लिये 'समाजवादी राष्ट्रमण्डल' (सोशलिस्ट कॉमनवेल्थ) वाक्यांश का अधिकाधिक प्रयोग किया। पदस्थिति की समानता का सुझाव सर्वथा सत्य से रहित नहीं है। ख्रुश्चोव ने अपने पिछलग्गू राज्यों के प्रति स्तालिन की अपेक्षा अधिक आदर प्रदर्शित किया है। पूर्वी यूरोपीयों के जीवनस्तरों को नीचा करके सोवियत स्तरों पर नीचे ले आने देने की दुःखद प्रक्रिया समाप्त हो गई है और कुछ समय तक सभी लोगों के जीवनस्तर एक साथ ऊँचे होते रहे हैं। यद्यपि सोवियत आर्थिक प्रगति से अनुगामी देशों को अधिकाधिक लाभ पहुँचता रहेगा; तो भी इन असन्दिग्ध उन्नतियों से सम्बन्ध का तात्विक भाग नहीं बदल जाता। साम्यवादी प्रशासनों को अनिच्छुक लोगों पर सोवियत सेना ने बलात् लाद दिया था और उन्हें सोवियत सेना के भय से बनाये रखा जा रहा है। जैसे ब्रिटिश शाही शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक दिनों में जैसा था, अपने पिछले वर्षों में उससे कहीं अधिक नरम और अधिक प्रगतिशील, दोनों, हो गया था, उसी प्रकार ख्रुश्चेव के आधीन सोवियत उपनिवेशी शासन उससे कहीं अधिक नरम और प्रगतिशील है जितना कि यह स्तालिन के आधीन था। परन्तु यह फिर भी उपनिवेशी शासन ही है। और भूतल से जल्दी-जल्दी लुप्त हो रहे पुराने यूरोपीय साम्राज्यों के उपनिवेशी शासनों के विपरीत यह वह शासन है जिसका रूपांकन अधिक व्यापक प्रयोग के लिये किया गया है; पूर्वी यूरोप और मंगोलिया दोनों के शासन इसके लिये आदर्श हैं।

साम्यवाद और नये राष्ट्र

साम्यवाद रूस, चीन और पूर्वी यूरोप तक ही सीमित रहेगा यह बात नहीं है। सोवियत नेताओं का यह विश्वास बना हुआ है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त समूची मानव-नस्ल पर लागू हैं और साम्यवादियों का यह कर्त्तव्य बना रहता है कि वे अलग होकर न बैठ रहें और इतिहास को अपने बदले काम न करने दें अपितु इतिहास की अवश्यम्भावी अनिवार्य प्रक्रियाओं की गति बढ़ाने का प्रत्येक सम्भव उद्योग करें। इस सिद्धान्त का तो अब समर्थन नहीं किया जाता कि सभी मानव समाजों को पूँजीवाद में से गुजरना आवश्यक है। अब तो सीधा 'सामन्तवाद' से कूदकर 'समाजवाद' पर पहुँच जाना सम्भव माना जाता है ('सामन्तवाद' का अर्थ साम्यवादी व्यवहार में लगभग स्पष्टतया निर्धारित कृषिक-शासक वर्गवाली उद्योग-पूर्व की अर्थव्यवस्था करते हैं)। मंगोलिया इसका प्रथम उदाहरण बताया जाता है। परन्तु किसी निर्दिष्ट समाज को भले ही पूँजीवाद में से गुजरने की आवश्यकता पड़े या न पड़े अन्त में इसे 'समाजवाद' की अवस्था में अवश्य पहुँचना पड़ेगा और कोई भी समाज हो समाजवाद पर केवल क्रांति से ही पहुँचा जा सकता है। समाजवादी क्रान्तियाँ केवल मार्क्सवादी-लेनिनवादी दल—वे ही दल जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी स्वीकार किया है—कर सकते हैं। और क्रान्तियों का एक ही परिणाम सम्भव है वह यह कि ऐसे दल द्वारा नियंत्रित एक दलीय ऐसा शासन स्थापित हो जाय जिसमें दूसरा दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों अथवा समुदायों को बिल्कुल भी स्वतन्त्रता न हो। सोवियत सामाजिक-राजनीतिक रूपरेखा, को १९३० की दशी में जो रूप दे दिया गया था, यह उसी रूप में छोटे-छोटे नगण्य परिवर्तनों समेत सभी राष्ट्रों के लिये अनिवार्य है।

नवम्बर १९५७ के बारह शासक साम्यवादी दलों के मास्को-घोषणा-पत्र में यह बात स्पष्ट और सुनिश्चित शब्दों में बतला दी गई थी। इस घोषणापत्र ने बताया कि समाजवाद का मार्ग भले ही विशिष्ट परिस्थिति के अनुसार बदलता रहे परन्तु कई "आधारभूत नियम" समाजवादी मार्ग पर चलना शुरू

करने वाले सभी देशों पर लागू है।" इन नियमों में प्रथम नियम यह है—"किसी-न-किसी रूप में सर्वहारा वर्ग क्रान्ति को करने में और किसी-न-किसी रूप में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित करने में मजदूर वर्ग द्वारा—जिसका केन्द्र मार्क्सवादी-लेनिनवादी दल है—मजदूर जनता का पथ-प्रदर्शन।"

समाजवाद पर पहुँचने के मार्ग विविध हैं—व्यवहार में इस सिद्धान्त के प्रतिबन्ध भी हैं-यह बात १९५६ में हंगरी की क्रांति के दमन द्वारा और हंगरी की मजदूर-कौंसिलों के विध्वंस द्वारा स्पष्ट कर दी गई थीं; ये मजदूर-कौंसिलें प्रारम्भिक १९१७ की स्वतंत्र रूसी सोवियतों के समय से स्थापित किसी भी संस्था की अपेक्षा अधिक वास्तविक (सच्ची) प्रतिनिधि हैं।

हाल के वर्षों में साम्यवादियों ने 'शान्तिपूर्ण क्रान्ति' (अथवा "समाजवाद का संसदीय मार्ग") और 'उग्र क्रान्ति' में भेद कर दिया है। फरवरी १९५६ में हुई सोवियत संघीय साम्यवादी दल की बीसवीं कांग्रेस में दिये गये अपने भाषण में मिकोयां ने पहली क्रान्ति के उदाहरण युद्ध पश्चात् के—चेकोस्लोवाकिया और पूर्वी जर्मनी बताये। इस-विषयक विशाल साम्यवादी साहित्य से यह बात पूरी-पूरी स्पष्ट हो जाती है कि 'शांतिपूर्ण क्रान्ति' का अर्थ है 'साम्यवादियों के विरोधियों द्वारा, युद्ध किये बिना ही, आत्म-समर्पण'। जब ऐसा हो जाता है तो साम्यवादियों के हाथ में सत्ता, शक्ति का प्रयोग किये बिना ही चली आती है और बाद में वे अपने समर्पित विरोधियों को बलात् नष्ट करने में अपनी सत्ता का प्रयोग करते हैं। क्रान्ति तब 'उग्र' होती है जबकि विरोधी प्रतिरोध करते हैं और साम्यवादियों को सत्ता प्राप्त हो। इसके लिये गृह-युद्ध की आवश्यकता पड़ जाती है। इस बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि, 'उग्र' तथा 'शान्तिपूर्ण' क्रान्तियों में भेद यह है कि उग्र क्रान्ति में तो हिंसा का प्रयोग सत्ता हथियाने से पूर्व तथा पश्चात् दोनों बार किया जाता है और शान्तिपूर्ण क्रान्ति में केवल बाद में ही हिंसा का प्रयोग किया जाता है।

* * *

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में ऐसा ही अन्तर 'साम्यवाद' की विजय युद्ध द्वारा होने में अथवा शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा होने में है। शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा विजय का होना तब सम्भव होगा जब कि 'पूंजीपतिदेश' (अर्थात् चीन-सोवियत गुट्ट से बाहर सभी सरकारें) 'समाजवादी शिविर' की माँगों के सन्मुख धीरे-धीरे प्रतिरोध किये बिना आत्मसमर्पण कर देंगे। सोवियत नेताओं के 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' का अर्थ यही है। बड़े युद्धों से तो बचे रहना है

और इस बीच में 'साम्राज्यवादियों' का विध्वंस करने के लिये 'आर्थिक साधनों' का प्रयोग करना है—अर्थात् न केवल अल्पविकसित समाजों के लोगों पर ही अपितु पश्चिम के समुन्नत औद्योगिक समाजों के लोगों पर भी साम्यवादी दल के शासन का आरोप कर देना है। 'आर्थिक साधनों' का अर्थ केवलमात्र व्यापार में प्रतिद्वन्द्विता और सहायता ही नहीं है अपितु प्रचार, विध्वंस और क्रान्तिकारी कार्रवाही के सभी उपलब्ध रूप भी इसमें सम्मिलित हैं।

दिसम्बर १९६० में मास्को में ८१ साम्यवादी दलों के प्रतिनिधियों ने जिस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये थे उसने इस सिद्धान्त का अनुमोदन कर दिया। इसने 'समाजवादी शिविर' (चीन-सोवियत गुट्ट) की वर्धमान शक्ति को जो शीघ्र ही 'साम्राज्यवादियों' की शक्ति से कहीं अधिक हो जायगी, महत्त्व प्रदान कर दिया। इस वक्तव्य के शब्द इस प्रकार हैं—"जब शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की दशाएँ उपस्थित हों तब, पूँजीवादी देशों में वर्ग संघर्ष को तथा उपनिवेशी एवं पराधीन देशों के लोगों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को प्रोत्साहित करने के लिये अनुकूल अवसर उत्पन्न हो जाते हैं।...राष्ट्रों के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ समाजवादी तथा बुर्जुआ विचारधाराओं में समझौता हो जाना नहीं है...विभिन्न सामाजिक पद्धति वाले राज्यों का सह-अस्तित्व, एक प्रकार का समाजवाद और पूंजीवाद के मध्य संघर्ष ही है।"

१९६० के मास्को घोषणा पत्र पर चीनी साम्यवादी दल के हस्ताक्षर विद्यमान हैं। 'समाजवाद की विजय के लिए युद्ध आवश्यक है या नहीं इस विषय को लेकर पूर्ववर्ती महीनों में सोवियत तथा चीनी दलों में एक विवाद छिड़ गया था। इस विवाद की कहानी (यह विवाद दिसम्बर १९६० की घोषणा से सम्भव है समाप्त नहीं हुआ होगा) का वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। युद्ध छिड़ जाने अथवा युद्ध के बिना ही विजय उपलब्ध हो जाने की सम्भावना को न तो सोवियत साम्यवादियों ने और न ही चीनी साम्यवादियों ने कभी असंगत समझा। परन्तु चीनी तो इस बात पर डटे हुए थे कि यह बात वस्तुतः निश्चित ही है कि 'साम्राज्यवादी' लड़ेंगे और विश्व युद्ध अवश्यम्भावी होगा, सोवियत नेताओं का यह मत था कि बिना युद्ध के ही विजय सम्भव है। परन्तु जहाँ तक उद्देश्य का सम्बन्ध है उनमें कोई मतभेद नहीं है; यह उद्देश्य पहले भी यही था और अब भी यही है कि एक-एक करके सभी देशों पर, उचित साधनों द्वारा क्रमशः साम्यवादी दल की तानाशाही को थोप दिया जाय।

१९६१ में यूरोप, उत्तरी अमरीका और आस्ट्रेलिया के समुन्नत औद्योगिक

समाजों में इस लक्ष्य की प्राप्ति की आशा बहुत ही कम थी। साम्यवादियों की प्रमुख कोशिशें एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अल्प विकसित समाजों के लक्ष्य से की जा रही थीं।

* * *

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि साम्यवादी इस बात को नहीं मानते कि 'समाजवाद' की दिशा में अल्पविकसित समाजों के लोगों की अवश्यम्भावी प्रगति की रफ्तार को बढ़ाने के लिये किये गये उनके प्रयत्न साम्राज्यवादी हैं। इसके विपरीत वे यह दावा करत हैं कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनके संघर्ष का रिकार्ड बड़ा आलीशान रहा है। १९२० की दशी में ही वे साम्राज्यवादी महान् शक्तियों के विरुद्ध चलाये गये एशियाई, अफ्रीकी राष्ट्रीयतावादी आन्दोलनों को यथाशक्ति यहायता दे चुके हैं। तुर्की में उन्होंने कमाल अतातुर्क का समर्थन किया, ईरान में रज़ाखान से और मिश्र में प्रारम्भिक वफ़द आन्दोलन से सहानुभूति दिखलाई। उन्होंने फ्रांसीसी साम्यवादियों से कहा कि वे अब्दुल-करीम के नेतृत्व में रिफ़ के मोरक्को-विद्रोहियों को और इंडोचीन में वियेतनामी राष्ट्रीयतावादियों की सहायता करें। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह हुई कि उन्होंने १९२३ से १९२७ तक कुओमितांग और चीनी साम्यवादियों के मध्य मैत्री की व्यवस्था की।

तो भी १९२० की दशी में भी एशियाई राष्ट्रीयतावादियों और साम्यवादियों के लक्ष्यों का अन्तर्विरोध दूर नहीं हो सका। सोवियत नेताओं की दिलचस्पी राष्ट्रीयतावादियों में इतनी नहीं थी जितनी सर्वहारा वर्ग में थी। एशियाई राष्ट्रीयतावाद से मैत्री सम्बन्ध के सबसे अधिक दुःसाहसी सिद्धान्तकार तातार साम्यवादी मिर्ज़ा सुल्तान-गाल्येव का १९२३ मेंनिरादर कर दिया गया। कमाल और रजा के सोवियत संघ से सम्बन्ध बिगड़ गये। राष्ट्रीयतावाद से मैत्री सम्बन्ध सबसे अधिक देर तक बना रखा गया और इसका अन्त चीन में बड़े दुःखद ढंग से हुआ जबकि च्यांगकाईशेक ने शंघाई में मजदूरों का जनसंहार किया और वह साम्यवादियों के हत्यारे उत्तरी सेनापतियों से मिल गया।

हिटलर के उदय और जापान से बढ़ती आशंका के कारण स्तालिन और उसके साथियों ने एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रीयतावाद को उपनिवेशी शक्तियों के विरुद्ध उकसाने की ओर सदा से कम ही ध्यान दिया। १९४१-१९४५ के सोवियत-जर्मन युद्ध के समय एशियाई साम्यवादियों से युद्धोद्योग का समर्थन करने का आग्रह किया गया। वैसे उनके देशों में इसका अभिप्राय प्रायः ब्रिटिश

युद्धोद्योग की सहायता करना लगाया जाता था। मित्रराष्ट्रीय पक्ष के लिये अपनी निष्ठा के कारण भारतीय साम्यवादियों ने अपने आपको भारतीय राष्ट्रीयतावादियों का घृणापात्र बना लिया था। वर्मा में साम्यवादियों ने राष्ट्रीयतावादियों को और अपनी वर्मा नेशनल आर्मी (वर्मा राष्ट्रीय सेना) को जापानियों के पक्ष से हटाकर मित्र-पक्ष में लाने में अपनी भूमिका अदा की थी। फिलिपाइन्स द्वीप समूह और मलाया में जापानी आधिपत्य के प्रतिरोध में साम्यवादियों ने प्रमुख भाग लिया।

परन्तु युद्ध के पश्चात् साम्यवादियों की नीति फिर लड़ाकू शत्रुता की नीति वन गई। अब फासिस्टों की ओर से तो कोई डर रहा नहीं था इसलिए 'पूंजीवादियों' के विरुद्ध संघर्ष को नये बल से चालू किया जा सकता था। एशियाई साम्यवादियों ने, सर्वत्र ही, उपनिवेशी ताक़तों के विरुद्ध संघर्ष में ग़ैर-साम्यवादी राष्ट्रीयतावादी के कान कतरने में एडी से चोटी तक का बल लगा दिया।

परन्तु जब ब्रिटिश सरकार ने भारत, पाकिस्तान, वर्मा और श्रीलंका को स्वाधीन देश मान लिया, संयुक्त राज्य की सरकार ने फिलिपाइन द्वीप समूह को स्वतन्त्रता प्रदान करने के अपने पहले के वचन को पूरा कर दिया और कटु युद्ध की एक अवधि के पश्चात् तथा संयुक्त-राष्ट्र-संघ में दबाव पर हालैंड ने इंडोनेशिया को स्वतन्त्र स्वीकार कर लिया तब एक नई समस्या उपस्थित हो गई। इन नये स्वतन्त्र प्रशासनों के प्रति सोवियत प्रशासन का और उन देशों के स्थानीय साम्यवादी दलों का रुख क्या होना चाहिये?

पहले पहल तो उत्तर अस्वीकृति का ही था। सोवियत सरकार ने नये राज्यों के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये तो सही परन्तु इस बात को सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया कि वे उनकी स्वतन्त्रता को बनावटी समझते हैं। उनकी दृष्टि में नेहरु, नू और सुकुर्ण 'साम्राज्यवादियों' के कठपुतली थे। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को दूसरे तरीकों से रखा जा रहा था। इंडोनेशिया में डचों की अधिकांश सत्ता, यह मानी हुई बात थी, कि नष्ट हो गयी थी परन्तु उनका स्थान अमरीकी साम्राज्यवादियों ने ही ले लिया था। (ठीक है!) १९४८ में भारत तो स्वतन्त्र नहीं था परन्तु रूमानिया पूरी तरह स्वतंत्र था! स्तालिन की दृष्टि में 'स्वतन्त्रता' का क्या अर्थ था इस बात के समझ आते ही उपरोक्त वक्तव्य तथ्य का सही विवरण लगने लग सकता है। रूमानिया निश्चय ही सोवियत संघ के प्रभाव के अतिरिक्त सभी दूसरे प्रभावों से सर्वथा मुक्त था जब कि भारत पर कई ओर से विभिन्न प्रभाव पड़ सकते थे। स्तालिन के

अन्तिम वर्षों में सच्ची स्वतन्त्रता का उसकी इच्छा की केवल पूर्ण अधीनता ही अर्थ हो सकता था। निस्सन्देह यह बात इतनी उजड्ड भाषा में नहीं कही गयी थी। एक अत्यन्त सामान्य व्यवस्था यह दी गई थी कि एशियाई लोग केवल 'मजदूर वर्ग के नायकत्व' में ही स्वतन्त्र हो सकते हैं; निस्सन्देह इसका अर्थ यही था कि साम्यवादी दल की तानाशाही के आधीन ही स्वतन्त्र हो सकते हैं। एशियाई साम्यवादी दलों को नई सरकारों के विरुद्ध विद्रोह करने की सलाह दी गई। १९४८ में भारत के तेलंगाना जिले में, बर्मा में, फिलिपाइन्स में, और इन्डोनेशिया में साम्यवादियों ने विद्रोह किये। मलाया जो अभी एक ब्रिटिश उपनिवेश ही था, वहां भी १९४८ में साम्यवादियों ने विद्रोह किया।

इन्डोचीन में फ्रांसोसियों के विरुद्ध युद्ध, साम्यवादियों के नेतृत्व में १९४६ में शुरू हुआ। परन्तु यहां स्थिति कुछ भिन्न थी, कारण यह था कि जापान-विरोधी प्रतिरोध-आन्दोलन को निरस्त्र नहीं किया गया था और फ्रांसीसी सरकार इन्डोचीन की स्वतन्त्रता की शर्तों को राष्ट्रीयतावादियों से नहीं मनवा सकी थी। इस कारण फ्रांसीसियों के विरुद्ध वियतनामी युद्ध दूसरे साम्यवादी विद्रोह की अपेक्षा अधिक प्रबल सिद्ध हुआ और १९५४ में इन्डोचीन के विभाजन के रूप में आधी सफलता तो मिल ही गई।

और विद्रोहों में से भारतीय विद्रोह को भारतीय सेना ने दबा दिया परन्तु शेष घिसटते रहे जिनका सरकारों पर कई वर्ष तक पर्याप्त व्यय पड़ा और लोगों पर और भी अधिक व्यय भार पड़ा परन्तु फिर भी कभी विजय समीप आती नहीं दिखाई दी।

× × ×

इसी अन्तर में चीनी साम्यवादी १९४९ में अपने गृहयुद्ध में विजयी हो गये। यद्यपि यह सम्भावित है कि मास्को में चीनी दावों के प्रति कुछ अविश्वास विद्यमान था तो भी सरकारी सोवियत प्रवक्ता ने चीनी सफलता की प्रशंसा की और इस बात पर बल दिया कि चीन में विजय 'मजदूर वर्ग के नेतृत्व में' उपलब्ध की गई थी।

नये राज्यों के प्रति नीति को उलटने की पहल रूस ने नहीं, चीन ने की। कोरियाई युद्ध ने स्पष्टतया यह प्रतिपादित कर दिया था कि भारत वस्तुतः पश्चिम का "पिछलग्गू" नहीं था और यह कि भारतीय विदेश नीति का निर्माण केवल नई दिल्ली में किया जाता था। १९५१ तक चीनियों ने भारत से अपेक्षाकृत अनुकूल सम्बन्ध स्थापित कर लिये। अगले वर्षों में चीनियों ने राजनय से

दक्षिण एशिया में मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की। अप्रैल १९५५ में चाऊ एन-लाई ने बानडुंग सम्मेलन के अवसर पर एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों पर अपना जादू चलाने का भरसक प्रयत्न किया। अब अब तक स्तालिन की मृत्यु हुए दो वर्ष बीत गए थे और उत्तराधिकारार्थ संघर्ष के पहले दौर समाप्त हो चुके थे—जून १९५३ में बेरिया गिरफ्तार कर लिया गया और फरवरी १९५५ में मालेन्कोव को पदच्युत कर दिया गया। विजयी निकिता ख्रुश्चोव अब अपने सहयोगियों के साथ हुए युद्ध से मुंह मोड़कर विश्व-राजनीति की ओर ध्यान दे सका। १९५५ के पतझड़ में मिश्र के साथ एक शस्त्र व्यापार, चेकोस्लोवाकिया के माध्यम से किया गया। और ख्रुश्चोव तथा बुल्गानिन ने भारत तथा बर्मा की भव्य यात्रा सम्पन्न की। इस समय से लेकर सोवियत विदेश नीति का सारा बल मुख्यतया अल्पविकसित देशों पर लगता आया है और सोवियत विस्तार का रुख भी इन्हीं देशों की दिशा में रहा आया है।

सोवियत दृष्टिकोण से इन अल्पविकसित देशों के तीन वर्ग बनाए जा सकते हैं।

प्रथम वर्ग में वे राज्य आते हैं जो स्वतन्त्र भी हैं और विदेश नीति उनकी तटस्थता की नीति है। सोवियत परिभाषा में ये राज्य राजनीतिक दृष्टि से तो स्वतन्त्र हैं, परन्तु आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं हैं, वे आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र तभी हो सकेंगे जबकि वे पश्चिम पर निर्भरता के सभी बन्धनों से अपने आपको स्वतन्त्र कर लेंगे और "समाजवादी समूह की निःस्वार्थ सहायता" का पूरा उपयोग कर चुके होंगे। यह व्यवस्था स्तालिन युग की व्यवस्था से कहीं अधिक व्यावहारिक और सूझबूझ की है परन्तु किसी भी प्रकार यह स्पष्ट नहीं होता कि सिद्धान्त रूप से अन्तर क्या है। यह स्पष्ट नहीं है कि यह दूसरी प्रक्रिया कहां तक चलानी पड़ेगी कि 'आर्थिक स्वतन्त्रता को मान्यता' मिल जाय। वस्तुतः शायद इसका अर्थ सोवियत गुट्ट पर पूरी आर्थिक निर्भरता हो और यह बात सोवियत संघ के प्रभाव से भिन्न अन्य सभी प्रकार के प्रभावों से स्वतन्त्र रहने के बराबर की-सी बात है—१९४० की दशी के पिछले भाग से, पूर्वी पिछलग्गू देश ऐसी ही स्वतन्त्रता का उपभोग ही तो करते आये हैं।

'राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र' उन राज्यों के इस वर्ग को, जिन्हें 'आर्थिक स्वतन्त्रता' की प्राप्ति में सफल होना अभी शेष है, १९६० में निश्चय ही भारत, बर्मा, इन्डोनेशिया, संयुक्त अरब गणराज्य और ईराक सम्मिलित थे। शायद

इसी वर्ग में मैक्सिको और आर्जेन्टाइना आदि लैटिन अमरीकी राज्य भी आते हैं। घाना, माली, मोरक्को, और इथियोपिया (अबीसीनिया) जैसे देश भी अनुमान से इसी वर्ग में आते होंगे। परन्तु १९६१ में क्यूबा सोवियत अर्थों में 'आर्थिक स्वतन्त्रता' के मार्ग पर इतना आगे बढ़ गया है कि इसको एक नए वर्ग का ही माना जायगा और गिनी भी शायद इसी वर्ग में आता हो।

दूसरा मुख्य वर्ग उन राज्यों का है जो स्वतन्त्र होते हुए भी पश्चिम के सहचर हैं। इनको न तो राजनीतिक दृष्टि से और न आर्थिक दृष्टि से ही स्वतन्त्र माना जाता है। इन पर 'साम्राज्यवादियों' का शासन है और ये इनका शोषण कर रहे हैं भले ही वह अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा क्यों न हो। १९६० में तुर्की, ईरान, पाकिस्तान, स्याम और फिलिपाइन द्वीप समूह और साथ ही लैटिन अमरीकी राज्यों में से अधिकतर इसी वर्ग में सम्मिलित थे। शायद ब्राजील भी इसी वर्ग में आता हो। इसका कारण यह है कि इसकी सरकारों ने पर्याप्त स्थिरता से संयुक्त राज्य अमरीका से सहयोग किया है। इनके नये प्रेसिडेन्ट क्वाड्रोस की भावी नीतियों के सम्बन्ध में कुछ निश्चय न होने के कारण इसकी स्थिति अनिश्चित रह गई है। शायद इसी वर्ग में ट्यूनिशिया को भी जोड़ा जा सके—इसका कारण यह है कि इसका प्रेसिडेन्ट हबीब बौरगुइबा पश्चिमी राष्ट्रों के अनुकूल है; हां, वह अभी विधिवत् मित्रता सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं हुआ है।

ध्यान रहे कि प्रथम और द्वितीय वर्ग में अन्तर विदेशनीति के अन्तर के कारण है। दूसरे वर्ग का कोई भी राज्य, ज्यों ही संयुक्त राज्य अमरीका से मैत्री अथवा सहयोग रखना छोड़ देगा, उसी समय वह प्रथम वर्ग का सदस्य समझा जाने लगेगा। 'राजनीतिक स्वतन्त्रता' का केवल इतना ही अर्थ है कि संयुक्त राज्य अमरीका से घनिष्ठ सम्बन्ध न हो, जबकि 'आर्थिक स्वतन्त्रता' का अर्थ है व्यापार तथा ऋणों के लिए सोवियत गुट पर निर्भरता।

तीसरे मुख्य वर्ग में वे उपनिवेश आते हैं जिन पर किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र का सीधा (प्रत्यक्ष) शासन विद्यमान है। इनमें पूर्वी तथा केन्द्रीय अफ्रीका में स्थित ब्रिटिश प्रदेश, पुर्तगाल के उपनिवेश तथा इंडियन, प्रशान्त, अटलांटिक और कैस्पियन महासमुद्रों में यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा अधिकृत छोटे-छोटे शेष राज्य हैं। वह अल्जीरिया भी इसी वर्ग में है जिसको फ्रांसीसियों ने कभी निरा उपनिवेश नहीं माना और वह दक्षिणी अफ्रीका भी है जो कभी किसी मातृ-भूमिक (मेट्रोपोलिटन) प्रशासन के आधीन नहीं रहा। इन दोनों देशों में ही

यह बात है कि एक अथवा कई राष्ट्रजातियों के बहुमत पर यूरोप में उत्पन्न एक अथवा कई राष्ट्रजातियों के अल्पमत का शासन विद्यमान है।

जहां तक इन तीन वर्गों का सम्बन्ध है, सोवियत तथा साम्यवादी नीति के उद्देश्य स्पष्ट हैं। उपनिवेशों में लक्ष्य यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रोत्साहन दिया जाय और उनसे अपने स्वार्थ की सिद्धि की जाय। स्वतन्त्र एवं भिन्न राज्यों में उनका लक्ष्य तटस्थतावाद के लिए आन्दोलन करवाना है। स्वतन्त्र और तटस्थ राज्यों में उद्देश्य तटस्थता को 'पश्चिम विरोधी तटस्थता' में परिवर्तित कर देना और फिर सोवियत गुट्ट की सदस्यता में परिवर्तित कर देना है। इन तीनों नीतियों पर क्रमशः विचार किया जा सकता है।

उपनिवेशी युग में, विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में एशिया में भी और द्वितीय युद्ध के पश्चात् अफ्रीका में भी, साम्यवादियों का प्रभाव राष्ट्रीय आन्दोलनों पर बहुत कम पड़ा। परन्तु ऐसे आन्दोलनो में नेतृत्व की समस्या को सोवियत नेताओं ने पर्याप्त अच्छी तरह समझा है। १८६० की दशी से १९१७ तक के रूसी क्रान्ति के इतिहास ने उन्हें छोटे से आधुनिक-शिक्षित बौद्धिक विशिष्ट वर्ग—बुध वर्ग (यह वह शब्द है जिसका एक शती पूर्व पहले पहल रूस में उदित सामाजिक वर्ग क लिये प्रयोग किया गया था)—के महत्व को हृदयङ्गम कर लिया है। वे खूब समझ गये हैं, (जैसा कि उपनिवेशी तथा भूतपूर्व-उपनिवेशी शक्तियों के बहुत से राजनीतिज्ञ, पत्रकार और सिविल कर्मचारी अभी तक भी नहीं समझ पाये हैं) कि इसी सामाजिक समूह में से ही नये राष्ट्र के नेता बनते हैं। विश्वयुद्धों की अवधि में साम्यवादियों ने यूरोप में अध्ययनरत एशियाई बुधवरों को आकर्षित करने का यत्न किया। उनकी स्पष्टतम सफलता का उदाहरण हो ची मिन्ह था। नेहरू और सुकर्णो से उन्हें इतनी सफलता नहीं मिली। नक्रूम्मा और केन्याता दोनों पर मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा परन्तु देखने में वह इतना गहरा प्रतीत नहीं हुआ।

१९५० की दशी में और बहुत-सी कोशिशें की जा चुकी हैं। अफ्रीकियों को प्रेग, मास्को तथा दूसरे सोवियत गुट्ट के केन्द्रों में विविध प्रकार के विज्ञान और प्रचार तथा विध्वंस के हथकण्डों का प्रशिक्षण दिया जा चुका है। परिणाम अत्यन्त अनिश्चित रहे हैं। कइयों से निराशायें हाथ लगी हैं। कुछ अफ्रीकियों ने भाषण और आने-जाने की स्वतन्त्रता पर लगाई गई बाधाओं पर कटुता से रोष प्रकट किया है। कुछ तो उस धृष्टता के विरोध में ही खड़े हो गये जो यूरोपीय तथा अमरीकी नगरों में प्रायः उनके सामने उपस्थित हुई वर्णभेद तथा

जातीय [illegible] सोवियत तथा पूर्वी यूरोपीय राज्यों का अनुकूल प्रभाव पड़ा। कुछ दूसरे ऐसे भी निकले जिन्होंने साम्यवाद की दीक्षा सोवियत गुट्ट के देशों में नहीं, अपितु पश्चिमी देशों में विशेषकर, पेरिस और लन्दन में ली। पश्चिमी अथवा पूर्वी यूरोप में गम्भीर अध्ययन के लिये आये हुए अफ्रीकियों में सोवियत समर्थक सहानुभूति की भावना की जड़ जमाने में अथवा कुछ को पूरे समय के विध्वंसक ऐजन्ट का प्रशिक्षण देने में सोवियत नेता कितने सफल हुए इसका अनुमान लगाना कठिन है। यह अनुमान लगाना कठिन है कि सेनेगॉल-स्थित छात्रों अथवा भूत-पूर्व छात्रों के आधार पर, साम्यवादियों के नेतृत्व में निर्मित समूह—(पार्टी अफ्रीकन डी इण्डिपेन्डेन्स = अफ्रीकी स्वतन्त्रता दल) का प्रभाव कितना था अथवा यह अनुमान करना असम्भव है कि एन्टोनी गिजेंजा अथवा पैट्रिस लुमुम्बा के दूसरे साथी किस सीमा तक कोंगो के स्वतन्त्र होने से पहले या बाद में सोवियत पक्ष में हुए।

* * *

उपनिवेशी स्थितियों पर प्रभाव डालने के उद्देश्य से की गई सोवियत कार्य-वाहियों का एक दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ रहा है। यहाँ पर जो सोवियत चाल रही उसको समझना कुछ भी कठिन नहीं है। निस्सन्देह यह तो स्पष्ट ही है कि, अफ्रीकी राष्ट्रीयता एक प्रबल और बढ़ती शक्ति है। डा० सालाज़ार और वेरवोएर्ड के अतिरिक्त सभी उत्तरदायित्व पूर्ण राजनीतिक नेता इस बात को मानते हैं। परन्तु दो बातें अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाई हैं—अफ्रीकी स्वाधीनता की दिशा में आन्दोलन की रफ़्तार और वे परिस्थि-तियाँ जिनमें इसकी प्राप्ति में सफलता मिली। सोवियत लक्ष्य तो यह है कि रफ़्तार अनियन्त्रित रहे और अफ्रीकी जनता और उसके उपनिवेशी शासकों की विदाई अधिकतम घृणा और हिंसामय वातावरण में हो। अराज-कता और रक्तपात की मात्रा जितनी अधिक होगी सोवियत उद्देश्य की दृष्टि से उतना ही अच्छा रहेगा। यदि सम्भव हो तो, पहले के शासक राज्यों के सैनिकों और कर्मचारियों को ही नहीं, अपितु सभी निजी नागरिकों को भी निकाल देना पड़ेगा। नये राज्य सदा अराजक स्थिति में नहीं रह सकते। वे समुन्नत राष्ट्रों से आये सलाहकारों और विशेषज्ञों के बिना जीवित बचे नहीं रह सकते। परन्तु उन्हें सोवियत गुट्ट से सलाहकार और विशेषज्ञ केवल तभी उपलब्ध हो सकते हैं जबकि वे केवल अपने पहले स्वामियों से ही नहीं, अपितु,

पहले के स्वामियों से मैत्री-सम्बन्ध रखने वाले सभी राष्ट्रों से भी असमाधेय लड़ाई न कर लें। इन्जिनीयर, वैज्ञानिक और व्यवस्थापक प्रचुर संख्या में सोवियत संघ, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, चीन अथवा दूसरे गुट्ट-देशों से पेश किये जायेंगे। एक बार जब उन्हें लगा दिया जायगा तो वे निर्णायक अधिकारों को बरतेंगे और अपने शिष्यों को न केवल विज्ञान और इन्जिनीयरी में ही प्रशिक्षित करेंगे अपितु उन्हें पड़ौसी देशों के विरुद्ध सुरक्षा पुलिस आतंक की कला, गुरिल्ला युद्ध विद्या और विध्वंस का प्रशिक्षण भी देंगे।

अफ्रीका में शीघ्र ही 'लोकप्रिय जनतन्त्र' बन जायेंगे। भाई-भतीजावादी अथवा परिवार प्रधान अवस्था से 'समाजवादी' अवस्था की दिशा में अवश्यम्भावी प्रगति की रफ्तार बड़ी शान से बढ़ जायगी—"सामन्त—(प्रधान) वाद" और 'पूँजीवाद' की अवस्थाएँ पार्श्व में छोड़ दी जायेंगी। तब एक नया सोवियत उपनिवेशी साम्राज्य बना लिया जायगा।

काँगों के दुःखान्त नाटक ने सिद्ध कर दिया कि १९६१ के आरम्भ तक इस दिशा में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। यह सच है कि सोवियत प्रवक्ताओं के अपरिमित दावों को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सच नहीं माना। परन्तु कुछ सिद्धांत तो सामान्यतया मान्य हो ही गये; ये सोवियत प्रयोजन की दृष्टि से असन्दिग्ध रूप से लाभप्रद थे और अधिकतर इसीलिये स्वीकृत हुए थे कि सोवियत रुख बहुत कड़ा रहा था। इनमें से एक तो यह था कि अफ्रीकी मामलों में केवल काले अफ्रीकन राज्यों को ही निष्पक्ष माना जा सकता है, श्वेत अफ्रीकी तो परिभाषा से ही पक्षपाती समझे जाते थे। दूसरा यह था कि कांगो स्थित संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना में अपनी टुकड़ियां भेजने के अधिकारी, आयर्लैंड और स्वीडन जैसे राष्ट्र ही पारस्परिक तटस्थ राष्ट्र हैं। इस संघर्ष में लुमुम्बा का पथ ग्रहण करने के लिये वचनबद्ध घना और गिनी को तो निष्पक्ष समझा गया जबकि यूरोप तक सीमित कार्यक्षेत्र वाली (जिसका एक सदस्य बेल्जियम है) 'नाटो' सन्धि-संस्था तक को इस बात के आयोग्य समझा गया कि वह भी निष्पक्ष-न्याय्य रुख रख सकती है। दूसरी सफलता यह रही कि सामान्यत: इस दृष्टिकोण को मान लिया गया कि बेल्जियम की सरकार अपने नागरिकों की रक्षा के लिये जो भी कार्यवाही करेगी वह 'साम्राज्यवादी' होगी और यह मान लिया गया कि कांगो स्थित सभी बेल्जियम नागरिक किसी-न-किसी प्रकार के राजनीतिक मूल पाप के अपराधी थे। शुरू में तो यह अभिप्राय था कि स्वतन्त्र कांगो को चाहिए कि वह वहाँ बेल्जियम लोगों को बसने और काम करने दे

और यह कि बेल्जियम व्यापार चालू रहना चाहिये ठीक वैसे ही जैसे ब्रिटिश व्यापार भारत में चालू है। परन्तु १९६० तक यह सोवियत दृष्टिकोण चुपचाप मान लिया गया प्रतीत होता है कि जब तक पहले के शासक राष्ट्र का एक भी व्यापारी किसी देश में व्यापार करता है तब तक वह देश अभी 'स्वतन्त्र' नहीं हुआ है। यह कहना शायद ही अत्युक्ति होगी कि संयुक्तराष्ट्र संघ की दीर्घाओं (गलियारों) में स्वीकृत "विश्व-सम्मति" के अनुसार कांगो-स्थित बेल्जियम नागरिकों को उसी प्रकार एक हानिकारक कीड़ा समझा जाता है जैसा कि 'तीसरी राइख' (नाजी शासन) में जर्मनी के यहूदियों को हानिकारक जन्तु समझा जाता था। और इस कारण कि कटाँगा में भी शौम्बे के बेल्जियनों के साथ सम्बन्ध अच्छे थे, उसको अफ्रीकी राष्ट्रीयतावादी और उनके यूरोपीय समर्थक वैसा ही समझें जैसा कि अल्बामा में किसी 'हब्शी-प्रेमी' को समझा जाता है।

ऐसी सम्मतियों को मान्यता मिल जाने को सोवियत विदेश नीति की एक सफलता ही माना जाना आवश्यक है। दूसरी ओर ऐसी अफ्रीकी सरकारें भी थीं जिन्हें ये मत मान्य नहीं थे और वे स्टेनलीविले की सरकार की ओर से सोवियत दावों को मान्यता देने को तय्यार नहीं थी—अर्थात् नाइ-जीरिया, सेनेगॉल, पहले के फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका प्रदेश के चार समहित देश, और पूर्ववर्ती फ्रांसीसी भूमध्य रेखा के समीप अफ्रीका के चार राज्य।

* * *

उपनिवेशी तथा नये स्वतन्त्र उष्ण प्रदेशीय अफ्रीका के सम्बन्ध में सोवियत तथा साम्यवादी विचार पद्धति का एक महत्वपूर्ण पहलू इन देशों में राष्ट्रिकता की रचना के सम्बन्ध में उनका मत है। इस विषय का प्रमुख सोवियत विशेषज्ञ प्रोफेसर आई आई पोतेखिन 'कबीलों' से 'जनता' और 'जनता' से बुर्जुआ, राष्ट्रों' के विकास के सम्बन्ध में नई उपपत्ति का क्रमशः स्पष्टीकरण करता रहा है। यह उपपत्ति औपचारिक रूप से तो पितृसत्तात्मक से सामन्ती और सामन्ती से पूँजीवादी सम्बन्धों के विकास की परिचित मार्क्सवादी क्रमिक अवस्थाओं से नहीं टकराती, परन्तु व्यवहार में इसको खूब बदल देतो है। वह बहुत-सी बोलियों और गौण भाषाओं से थोड़ी-सी मानकित साहित्यिक भाषाओं के निर्माण पर बहुत बल देती है। इससे स्पष्ट है कि पोतेखिन भाषाओं के विकास को पूँजीवाद के विकास से कम महत्व का राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने वाला साधन नहीं मानता। बोलियों और भाषाओं की समस्या को सुलझाने में सोवियत

साम्यवादियों के अनुभव ने और 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के उनके अनुभव ने (विशेषकर वोल्गा घाटी और तुर्केस्तान में) उन्हें भाषायी राष्ट्रिकता को सम्भालने में खूब निपुण बना दिया है। यूरोपीय उपनिवेशों की सीमाओं का निर्धारण मनमाने ढंग से कर देने के कारण भी उन्हें उत्तम अवसर मिल जाते हैं। सोमाली यू और बाकोंगो उन भाषा-समुदायों के उदाहरण हैं जो दो या दो से अधिक अफ्रीकी राज्यों में विभक्त हैं। पोतेखिन तो यह कल्पना तक करता है कि इस समय सूडान, कोंगो, उगांडा और केन्या में विभक्त नील नदी प्रदेश के लोगों की एक कृत्रिम अकेली भाषा और इसके परिणामस्वरूप अकेली राष्ट्रीय चेतना का निर्माण किया जाय। उसका तर्क यह है कि नीलनदी प्रदेश की भाषाओं की 'एक ही आधारभूत शब्दावली' है और उनमें से तीन की व्याकरण-रचना भी एक-जैसी है। अनुकूल दशाएँ उत्पन्न हो जाने पर नीलनदी प्रदेश के लोग यदि एक जनता बन जाएँ तो यह बात किसी भी तरह असंगत नहीं मानी जा सकती।" १९६०-१९६१ के कोंगो संकटकाल में सोवियत सरकार ने 'संघीय' प्रवृत्ति के विरुद्ध 'केन्द्रीयकरण' का समर्थन किया है। परन्तु कोंगोका अधिक बड़ा भाग यदि सोवियत प्रभाव से बच निकले तो यह सम्भव है कि सोवियत-समर्थक शक्तियों से नियन्त्रित छोटे भाग का प्रयोग एक भावी नीलनदी-राज्य के निर्माण के लिये आन्दोलन के आधार के रूप में किया जाय।

* * *

उपनिवेशी क्षेत्रों में सोवियत संघ की नीति लचीली रही है। इसने ऐसी कोई सौगन्ध नहीं खाई हुई है कि सभी स्थानों पर युरोपीयतत्त्वों से असमाधेय शत्रुता बर्तें। देखिये, अल्जीरिया का एफ० एल० एन० दल साम्यवादी नहीं है और अल्जीरिया में साम्यवादी आन्दोलन का मुख्य आधार यूरोपीय मजदूर वर्ग है। यदि वहाँ से युरोपीय बिरादरी का विध्वंस कर दिया जाय अथवा उसे निकाल बाहर कर दिया जाय तो अल्जीरिया के स्वतन्त्र हो जाने की अवस्था में, वहाँ साम्यवादी दल का भविष्य अच्छा नहीं होगा। इसी लिये अल्जीरियाई साम्यवादी तथा फ्रांसीसी साम्यवादी—दोनों-ही एक ऐसे समाधान का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार युरोपीय बिरादरी, जो अधिकतर शहरी मजदूर वर्ग हैं, देश में पर्याप्त संख्या में बनी रहे। दक्षिणी अफ्रीका में भी ऐसी ही स्थिति विद्यमान है। साम्यवाद को सहारा अथवा सहानुभूति प्रधानतया अल्पसंख्यक श्वेत आबादी से मिलती है। यदि कभी वेरवोर्ड प्रशासन का पतन हुआ

ग्रौर दक्षिणी अफ्रीका में वामपक्ष की विजय हो गई तो देश को यूरोपीय विशेषज्ञों, विशेषकर इंजीनियरों ग्रौर शिल्पियों, वैज्ञानिकों तथा प्रशिक्षित मजदूरों की ग्रावश्यकता होगी। यही कारण है कि दक्षिण-ग्रफ्रीकी साम्यवादी निश्चित रूप से यूरोपीय विरोधी सर्व-ग्रफ्रीकावादियों (यद्यपि इनके नेता इस बात का निषेध करते हैं कि वे सभी श्वेतों को बाहर निकाल देना चाहते हैं) के विपरीत ऐसा समाधान चाहते हैं जो बहु-जातीय हो।

* * *

पश्चिम के मित्र स्वतन्त्र राज्यों में सोवियत प्रचार-विभाग, संयुक्त राज्य, स्थानीय धनिक वर्ग तथा स्थानीय तानाशाहियों के ग्रापसी मैत्री सम्बन्ध पर ग्रपना ध्यान केन्द्रित रखता है। उन स्थानीय व्यापारियों को, जिनके व्यापारिक सम्बन्ध ग्रमरीकियों के साथ ग्रथवा पश्चिमी यूरोपियों के साथ विद्यमान हैं उन्हें 'स्थानीय दलाल ग्रौर प्रतिक्रियावादी बता दिया जाता है। ग्रौर जिनके व्यवसाय पश्चिमी व्यापारियों के व्यापार से प्रतिस्पर्धा करते हैं उनकी प्रशंसा की जाती है—उन्हें 'राष्ट्रीय बूर्जुग्रा' कहा जाता है। कसौटी विदेशनीति की रहती है ग्रौर स्थानीय व्यापारियों की ग्रापसी दूसरी सब भिन्नताग्रों की उपेक्षा कर दी जाती है (उनमें कोई धनी है तो कोई ग़रीब है; ग्रपने कर्मचारियों से कोई तो ग्रच्छा व्यवहार करता है तथा कोई बुरा वर्ताव करता है।) तानाशाहियों की सत्ता का कारण यों ही, ग्रमरीकी नीति को बता दिया जाता है। तथापि, यदि ग्रमरीकी सरकार तानाशाही से विरोध प्रदर्शित करती है तो यह "साम्राज्यवादी हस्तक्षेप" हो जाता है। उदाहरण के लिये वेनेज्वेला में जनरल पेरेज जिमेनेज ने जो क्रूरताएँ कीं उनके कारण संयुक्त राज्य ग्रमरीका को दोषी माना गया परन्तु जब बुयेनोसग्रायर्स—स्थित ग्रमरीकी राजदूत ने तानाशाह जुग्रान पेरों पर १९४५ में दबाव डाला तो यह ग्रार्जेन्टाइना के मामलों में यांकी (ग्रमरीकी) हस्तक्षेप हो गया। जब पेरेज़ का तख़्ता पलट दिया गया तब साम्यवादी पहले तो प्रसन्न हो गये। परन्तु जब 'डेमोक्रेटिक एक्शन' (जनतंत्री कार्यवाही के लिये निर्मित इस नाम के दल) का नेता रोमुलो बेटनकोर्ट प्रेसिडेन्ट बन गया ग्रौर उसने संयुक्त राज्य ग्रमरीका के साथ मित्रता की नीति का पालन, एक वस्तुतः जनतंत्री शासन प्रचलित करते हुए किया, तब मास्को ने उसे यांकी कठपुतली कहकर उसकी भर्त्सना कर दी।

ईरान का मामला कुछ रोचक है। १९४५ में सोवियत सरकार ने (जिसकी सेना इसके ग्रंग्रेज ग्रौर ग्रमरीकी मित्रों के साथ हुए समझौते के ग्रनुसार ईरान

में १९४१ से स्थित थीं) सोवियतसंघ के [illegible] स० ग० के सीमावर्ती उत्तर-पश्चिमी आज़रबाइजान में साम्यवादी शासन स्थापित कर लिया और माहावाद में एक कुर्द—स्वायत्त-सरकार की स्थापना का समर्थन भी कर दिया। एक वर्ष पश्चात् सोवियत सेना हटाली गई और दोनों प्रशासन ढेर हो गये : लाखों ईरानियों के मन में सोवियतशासन की कटु स्मृति शेष रह गई। इस सोवियत परावर्तन का एक कारण तो अमरीकी दबाव प्रतीत हुआ और दूसरा कारण साम्यवादियों की यह आशा (जो पीछे भ्रान्त सिद्ध हुई) थी कि यदि साम्यवादी तेहरान स्थित केन्द्रीय सरकार में अधिक भाग लेंगे तो रूस का पंजा ईरान पर और अधिक कस जायगा। १९४५ के बाद के सोवियत-इतिहास में यह पहली ही ऐसी घटना थी कि एक बार साम्यवादी शासन स्थापित करलेने के बाद मास्को ने किसी स्थान को छोड़ा हो। छः वर्ष पश्चात् एक दूसरा अवसर तब आया जब डॉ० मुसद्दीक की चरम राष्ट्रीयतावादी सरकार सत्तारूढ़ हुई और विशेषकर ब्रिटेन से तथा सामान्यतया सभी पश्चिमी राष्ट्रों से, तेल के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को लेकर कटु संघर्ष में फंस गई। परन्तु मुसद्दीक और साम्यवादी (तूदे पार्टी) आपस में इतना अविश्वास करते थे कि वे संयुक्त बल नहीं लगा सके। अगस्त १९५३ में मुसद्दीक पदच्युत कर दिया गया और साम्यवादी (जिन पर शाह को क़त्ल करने के एक असफल प्रयत्न के बाद प्रतिबन्ध लगा दिया गया था और जो १९५२ की गड़बड़ में पुनः प्रकट हो गये थे) एक वार फिर भूमिगत हो गये। परन्तु, १९५० के दशक के अन्तिम वर्षों में सोवियत आक्रामक प्रचार तेज हो गया और भूमिगत साम्यवादियों की कार्यवाहियाँ बढ़ गईं। इस बात की भरसक चेष्टा की जाती रही है कि न केवल प्रसुप्त पश्चिम विरोधी राष्ट्रीय भावना और सामाजिक कुप्रथाओं तथा तानाशाही शासन के प्रति असन्तोष का लाभ उठाकर स्वार्थसिद्धि की जाय, अपितु ईरानी बौद्धिक वर्ग को यह विश्वास दिला दिया जाय कि उनके सभी कष्टों का कारण संयुक्त अमरीका ही है और यह विश्वास दिला दिया जाय कि जब एकबार ईरान तटस्थ हो जायगा तो उसकी सभी भीतरी अवस्थायें सुधर जायेंगी। सोवियत नीति के प्रयोजन को समझ लेना सरल है। पहले ईरान का पश्चिम मैत्री सम्बन्ध तोड़ना होगा और फिर उसको तटस्थ राज्य से सोवियत संघ का पिछलग्गू राज्य बनाना होगा, जिससे सोवियत संघ को स्थल द्वारा अरब-संसार में सीधे पहुँचने का और अरबी संसार के माध्यम से अफ्रीका में पहुँचने का सीधा मार्ग मिल जायगा। अप्रैल १९६१ की संकटावस्था के कारण

डॉ० अली अमीनी की सरकार बनी। इस संकटावस्था ने ईरानी राजनीति को उस सन्दिग्ध अवस्था को प्रकट कर दिया जिससे सोवियत सरकार, स्पष्ट ही, यथासम्भव अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहती थी।

ईरान के दक्षिण-पश्चिमी पड़ौसी ईराक में १९५८ में ऐसा प्रतीत हुआ कि सोवियत सरकार ने निर्णायक विजय उपलब्ध कर ली हो। सैनिक पदाधिकारियों ने सय्यदवंशीय नूरी और राजकुल का तख़्ता पलट दिया परन्तु साम्यवादी शीघ्र ही छिपने की जगहों से बाहर आगये और उन्होंने नगरों के शहरी सर्वहारा वर्ग में अपने अनुयायियों को संगठित कर लिया। उनका राजनीतिक प्रभाव इतनी द्रुतगति से बढ़ा कि ऐसा लगा कि ईराक शीघ्र ही 'लोक गणतंत्र' बन जायगा। परन्तु १९५९ में किर्कुक में अपने विरोधियों का जनसंहार करके वे स्वयं ही मूर्ख बन गये। वे किसानों को अपने झंडे के नीचे नहीं ला सके और सेना में जनरल कासिम ने अपना अधिकार किसी-न-किसी प्रकार बनाये रखा। १९६० के अन्त में साम्यवादियों का प्रभाव अधिकांश में नष्ट हो गया था। इस प्रकार हमने देखा कि जुलाई १९५८ की क्रान्ति ने सोवियत नीति को इतना लाभ तो प्रदान कर दिया कि ईराक़ पश्चिम का मित्र न रहकर तटस्थ हो गया परन्तु १९६० के अन्त तक सोवियत सरकार और ईराकी साम्यवादी ईराक को 'समाजवादी शिविर' में एकत्र कर लेने के अगले लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाये थे।

* * *

दूसरी ओर क्यूबा में साम्यवादी अधिक भाग्यशाली रहे। बाटिस्टा की तानाशाही के प्रति घृणा और संयुक्त राज्य अमरीका के प्रति घृणा, कम से कम कास्त्रो और उसके साथियों के मन में तो आपस में मिलकर एक हो गईं। अमरीकी सरकार और अमरीकी लोकमत, पहले पहल तो कास्त्रो के विरुद्ध नहीं थे; संयुक्त राज्य की उसकी पहली यात्रा के समय उसका खूब स्वागत किया गया था। परन्तु अपने उत्तरी पड़ोसी से शत्रुता करने का उसने स्वयं अथवा उसके सलाहकारों ने दृढ़ निश्चय किया हुआ था। इसके बाद अमरीकी हितों पर जान-बूझकर आक्रमण किए गए और वाशिंगटन क ओर से किये गये हल के प्रत्युपायों का दुरुपयोग 'यांकी साम्राज्यवाद' के प्रति अधिक घृणा उत्पन्न करने में किया गया। गृहयुद्ध के पुराने अनुभवी व्यक्तियों के स्थान पर क्यूबाई साम्यवादी आते गये और सोवियत गुट्ट से विशेषज्ञ बुला लिए गये। १९६१ के आरम्भ में ऐसा लगा कि पश्चिमी गोलार्ध में क्यूबा प्रथम सोवियत

अनुगामी देश बनने ही वाला है। अप्रैल १९६१ में क्यूबा पर जो राजनीतिक दृष्टि से मूर्खतापूर्ण और सैनिक दृष्टि से असफल 'चढ़ाई' की गई उसने सम्भवत: इस प्रक्रिया के वेग को बढ़ाया ही।

गिनी में भी कुछ सफलता उपलब्ध हो गई। फ्रांसीसी सरकार ने १९५८ में एक बड़ी भूल यह कर दी कि गिनी ने जब स्वतन्त्रता की मांग की तो उसके प्रत्युत्तर में फ्रांस ने सारी आर्थिक सहायता बन्द कर दी। फ्रांस के पश्चिमी साथी इस कमी को इसलिए पूरा नहीं कर सके कि फ्रांस विरोधी न बन जाय। इस कारण गिनी के नेता सेकू तूरे को विवश होकर सोवियत गुट्ट से सहायता लेने की कोशिश करनी पड़ी। सोवियत गुट्ट के आर्थिक, राजनीतिक तथा सुरक्षा विशेषज्ञों की एक बड़ी संख्या का—विशेषकर चेक और पूर्वी जर्मन लोगों का देश में तांता लग गया। सेकू तूरे स्वयं तो कम से कम यही चाहता था कि कम से उतनी स्वतंत्र और तटस्थ नीति तो अवश्य बरती जाय जितनी कि युगोस्लावियाई बरतते हैं। परन्तु १९६० के अन्त में यह बात स्पष्ट नहीं रही थी कि सेकू तूरे का अपने निजी दल पर ही और सुरक्षा साधनों पर कितना नियन्त्रण है। गिनी शायद पिछलग्गू बनने की उस स्थिति में तो नहीं पहुँचा था जिस स्थिति में क्यूबा पहुँच चुका था, परन्तु यह उस मार्ग पर आरूढ़ हो चुका था। अगस्त १९६० में पहले के फ्रान्सीसी सेनेगॉल और सूडान क्षेत्रों से निर्मित माली संघ दो भागों में विभक्त हो गया। यह विभाजन व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता और राजनीतिक लक्ष्यों तथा आर्थिक हितों में मतभेद के कारण हुआ था। अल्जीरिया के प्रति क्या रुख अपनाया जाय और केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के तुलनात्मक अधिकार क्या हों इनके विषय में मतभेद विद्यमान था। दोनों में से कम समृद्ध सूडान का रुख अधिक उन्मूलक था और समृद्धतर सेनेगॉल का अधिक अनुग्र था। सम्बन्ध-विच्छेद की शंका उपस्थित हो जाने पर फ्रांसीसी सरकार दो मार्गों में से एक को चुन लेने के लिए विवश हो गई। या तो वहां पर स्थित सेना की सहायता से बलात् पुनः एकता कराती अथवा सेनेगॉल की स्वतन्त्रता को स्वीकार करती। दो दलों में से एक तो नाराज होना ही था। इसने सेनेगॉल को मान्यता देना ही उचित समझा—इसके नेता फ्रांस के वस्तुतः अधिक अनुकूल थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सूडान, जिसने अपना नाम माली रखे रखा, केवल तटस्थ ही नहीं, पश्चिम का अधिक शत्रु हो गया। कांगो संकट में इसने पहले तो लमुम्बा का और बाद में स्टेनलेविले में गिजेंजा सरकार का दुराग्रहपूर्ण समर्थन

करने में गिनी और संयुक्त अरब गणराज्य का साथ दिया। परन्तु १९६१ के आरम्भ में यह अवस्था थी कि सोवियत दृष्टिकोण की दिशा में माली गिनी की अपेक्षा कम आगे बढ़ा था।

सोवियत प्रवक्ता स्वतन्त्र तटस्थ राज्यों के नेताओं को जिस प्रमुख लक्ष्य का लालच दिखाते हैं वह 'आर्थिक स्वतन्त्रता' है। इस लक्ष्य की प्राप्ति की विविध शर्तें हैं। बहुत थोड़ी अथवा कुछ भी क्षतिपूर्ति किये बिना ही विदेशी निजी पूंजी को जब्त कर लेना होगा। ऐसे देश में जब तक महत्वपूर्ण विदेशी निजी संस्थाओं की सम्पत्तियाँ विद्यमान हैं अथवा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की किसी महत्वपूर्ण शाखा में विदेशी निजी पूंजी का जब तक कोई भी महत्वपूर्ण भाग विद्यमान है तब तक विदेशी व्यापारी राष्ट्रीय तथा साम्यवादी प्रचार के लिये बहुमूल्य बलि-बकरे बने रहते हैं। जब तक 'साम्राज्यवाद' के इन अवशेषों को मिटा नहीं दिया जाता तब तक सोवियत तथा स्थानीय साम्यवादी इस बात को मानने के लिये तय्यार नहीं हो सकते और नहीं होते कि देश में आर्थिक स्वतंत्रता विद्यमान है।

स्वतन्त्र तटस्थ राष्ट्रों से यह आग्रह भी किया जाता है कि वे पश्चिमी राष्ट्रों से आर्थिक सहायता न लें। रक्षा पर अथवा उन आर्थिक आवश्यकताओं पर, जो रक्षा के भारी बोझ के अभाव में रहेंगी ही नहीं, इस समय भारी अनुपात में व्यय होने वाली पश्चिमी सहायता के बहुत से निष्कर्ष निकाले जाते हैं। यह युक्ति दी जाती है कि अमरीकी सहायता-कार्यक्रमों पर अमरीकी एकाधिकारी पूंजीपतियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रयत्क्ष नियन्त्रण रहता है। उनका लक्ष्य सहायता लेने वाले देशों की न तो रक्षा करना ही है और न उनका विकास करना है—उनका उद्देश्य तो उन देशों का शोषण करना है।

पश्चिम के साथ किये गये व्यापार को भी साम्राज्यवादी-शोषण का साधन बताया जाता है। तर्क यह दिया जाता है कि नये राज्यों को बाधित किया जाता है कि वे अनावश्यक उपभोक्ता पदार्थों की भारी मात्रा का आयात करें। इन पदार्थों से उन शासकवर्गों के विलास की सामग्री में वृद्धि हो जाती है जो पश्चिमी साम्राज्यवादियों के सार्थक गुमाश्ते होते हैं परन्तु अर्थव्यवस्था को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचाते। इसके अतिरक्त मूल्य-पद्धति में भावों को इस प्रकार घटा-बढ़ाकर रखा जाता है कि उससे पश्चिम को लाभ पहुँचता है : खनिजों और कच्चे माल के बहुमूल्य निर्यातों का मूल्य थोड़ा रखा जाता है; व्यर्थ-पदार्थों के आयातों के दाम बहुत बढ़ाकर रखे जाते हैं।

पश्चिमी सहायता और व्यापार के संदिग्ध नामों के विपरीत सोवियत गुट्ट अनूठी आशायें दिलाता है। सोवियत प्रचारक और स्थानीय साम्यवादी सभी सोवियत सौदों को 'उदार सहायता' बताते हैं। पिछले अध्याय में वर्णित पोलैंड के कोयले के बाधित मूल्य और 'संयुक्त कम्पनियों' के युग में पूर्वी यूरोप में भी, निस्सन्देह घृणासूचक अर्थों में वही वाक्यांश प्रयुक्त किया गया था और आजकल भी जरा अधिक संयत रूप से प्रयुक्त होता है। एशियाई मामलों के सोवियत विशेषज्ञ ई० एम० भुकोव ने मार्च १६५६ में लिखा था कि पश्चिम से किये गये सब समझौते 'वस्तुतः असंगत होंगे और उनके अन्तिम परिणाम स्वतन्त्रता का त्याग, विदेशी एकाधिकार के नियन्त्रणाधीन होना और विदेशी साम्राज्यवाद के सन्मुख आत्मसमर्पण होंगे।' एक दूसरे पूर्वी देशों के सोवियत विशेषज्ञ वी० वाई० आवरिन ने अल्पविकसित समाजों की आर्थिक समस्याओं पर लिखने वाले पश्चिमी लेखकों के इस दावे का कि "पश्चिमी निजी पूंजी को "तभी स्वीकार करना चाहिए जबकि धन लगाने वालों और लेनदारों को उचित मुनाफा निश्चित रूप से मिलने की परिस्थिति हो" यह अर्थ लगाया कि पश्चिम की यह मांग है कि "नये राज्यों को चाहिए कि वे विदेशी पूंजी के असीमित शोषण और अतुल विनिमय का प्रतिरोध न करें" और 'उपनिवेशी उत्पीडन को समाप्त करने से पूर्व जो स्थिति विद्यमान थी उसी स्थिति को पुनः स्थापित करने के लिए सहमत हो जायं' इस धूमिल भविष्य का विकल्प 'समाजवादी देशों की निःस्वार्थ और उदार सहायता पर निर्भरता' है। (ठीक है!) 'समाजवादी शिविर' के भीतर विद्यमान आदर्श सम्बन्धों के रूप में यह बात पहले ही प्रकट हो चुकी है! एक दूसरे सोवियत लेखक वी० ए० फोमिना के शब्दों में 'समाजवाद की सफल रचना ठीक-ठीक विश्व समाजवादी शिविर के ढांचे में, घनिष्ठ आपसी सम्बन्धों और सहयोग के आधार पर, समाजवादी देशों की अखण्डता, उनकी राज्यीय स्वतन्त्रता और आधिपत्य के सन्मान तथा पूर्ण समानता के सिद्धान्तों पर और दूसरों के मामलों में एक देश के अथवा कई देशों के हस्तक्षेप-न-करने के सिद्धान्त पर हो सकती है।" हंगरी में नवम्बर १६५६ की घटनाएँ (मानों) कभी हुई ही नहीं!

सोवियत नीति के प्रयोजन व्यापार की वृद्धि करना और सहायता प्रदान करना दोनों रहते हैं और 'राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग' को अपने पक्ष में करने का विशेष ध्यान रखा जाता है। इस वर्ग में एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमरीकी राष्ट्रों के निजी क्षेत्र के व्यापारी, उनके मन्त्रालयों और आर्थिक-योजना संस्थाओं

के कर्मचारी; और स्वतन्त्र बौद्धिक व्यवसाय करने वाला—बुद्धिजीवी वर्ग सब सम्मिलित हैं। इन समुदायों में से प्रथम वर्ग को अपने पक्ष में करने का सर्वोत्तम उपाय लाभदायक व्यापार का निर्माण कर लेना है। इस क्षेत्र में सोवियत नीति को, अभी तक बहुत अधिक तो नहीं, थोड़ी सफलता ही मिली है। दूसरे और तीसरे समूह औद्योगिक विकास की योजनाओं में सोवियत अंशदान से बहुत प्रभावित हुए हैं। कर्मचारियों की दिलचस्पी तो सीधी इस कारण हैं कि उनकी आजीविका का प्रश्न है; और बौद्धिक वर्ग एवं छात्रों को औद्योगिक प्रगति पर आधारित देश-गौरव की झांकी से स्फूर्ति मिलती है। सोवियत सहायता का प्रयोजन यह रखा गया है कि नये देशों की अर्थव्यवस्थाओं के राज्यीय खण्ड को शक्तिशाली बनाया जाय। सोवियत लेखक भारत, संयुक्त अरब गणराज्य और दूसरे स्वतन्त्र तटस्थ राष्ट्रों की आर्थिक योजनाओं का समर्थन बड़े नपे-तुले शब्दों में करते हैं। यहाँ पर झुकोव का उद्धरण फिर दिया जा सकता है:—
"यह मान लिया कि पूर्व में सामान्य आर्थिक और शिल्पी प्रगति अपेक्षतया निम्न स्तर पर है···और यह भी मान लिया कि इन देशों में आर्थिक स्तर विविध है—तो भी पूर्व के असमाजवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं के राज्यीय (अधिक ठीक कहें तो राज्यीय पूंजीपति) खण्ड की, अपनी अर्थव्यवस्थाओं और प्रभुसत्ता को प्रबल बनाने का महत्वपूर्ण घटक बनजाने की क्रमिक प्रवृत्ति को तुच्छ नहीं समझ लेना चाहिये।" और व्यवहार में १९५६ से सोवियत संघ ने भारत, इंडोनेशिया, अफगानिस्तान, संयुक्त अरब गणराज्य, ईराक, इथियोपिया, गिनी और क्यूबा को प्रचुर ऋण प्रदान किये हैं।

परन्तु सोवियत प्रवक्ताओं ने अपने इस मत के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहने दिया है कि अफ्रीकी-एशियाई 'राज्यीय पूँजीवाद' को 'समाजवाद' नहीं कह सकते और यह कि इन देशों में जिस 'राष्ट्रीय बुर्जुआवर्ग' का आधिपत्य है उसके स्थान पर, उचित समय में ही, 'मजदूर वर्ग की सरदारी' का (अर्थात् साम्यवादी दलों की तानाशाही का) आधिपत्य हो जाना चाहिये। एक-दूसरे प्राच्य देशों के विशेषज्ञ ए० ए० गूबर के शब्दों में कहा जा सकता है कि: "हमें बूर्जुआ दलों द्वारा अपनाये गये समाजवादी नामों— 'समाजवादी पद्धति के समाज की रचना', 'समाजवाद की रचना'—आदि के लिए कार्यक्रमों का अपना लक्ष्य स्वीकार कर लेने से ही धोके में नहीं आ जाना चाहिये।" एक दूसरा लेखक वी० वी० बालाबुशेविच लिखता है कि राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग एड़ी से चोटी तक का बल इस काम में लगा देता है कि सोवियत

संघ तथा दूसरे समाजवादी देशों की सफलता के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुए समाजवाद के नारों का प्रयोग करके—मजदूरों के मन में समाजवादी दल की प्रतिष्ठा को कम कर दिया जाय। कई देशों में राज्यीय-पूंजीवाद के समर्थक उपायों की सफलता और आर्थिक आयोजनों के तत्वों की उपस्थिति को, रष्ट्रीय विशेषताओं का ध्यान रखने वाले 'समाजवादी मार्ग पर चलकर हुई उन्नति के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।" स्वतन्त्रता की उपलब्धि के पश्चात् राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग तथा श्रमिक जनता के बीच स्वार्थों की एक प्रकार की सहचारिता का प्रतिपालन, शान्ति बनाये रखने के लिये, उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष को चालू रखने के लिये और राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता को बलशालीं बनाने के लिये, किया जाता है। परन्तु साथ ही वर्ग संघर्ष को और तीव्र करने के लिये वास्तविक स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को शक्तिशाली बनाने के लिये तथा बुर्जुआ लोकतन्त्री क्रान्ति के कार्यों की अत्यन्त संगत पूर्तियों के लिये किये गये संघर्ष में साम्यवादियों के और श्रमिकों के दलों के नेतृत्व में मजदूर वर्ग को इस बात का अवसर मिल जाने की सम्भावना रहती है कि यह व्यापक जनताओं और पहले-पहल किसानों को अपने पक्ष में कर ले।" यही गूबर फिर कहता है—"मजदूर वर्ग ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की उपलब्धि को केवल एक मंजिल, सामाजिक परिवर्तन के लिये तथा बाद में राष्ट्रीय उपनिवेशवादी क्रान्ति के सामाजिक क्रान्ति बन जाने के लिये आवश्यक शर्त ही, माना है। राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को अपना अन्तिम लक्ष्य अर्थात् किसी प्रभुसत्तात्मक राज्य में अपने अविभक्त शासन की स्थापना समझा है।"

दूसरे शब्दों में नेहरू, नू, सुकर्ण अथवा नासिर का अपने-आपको समाजवादी कहना एक प्रतारणा है। समाजवाद अनिवार्य है परन्तु यह तभी आयेगा जब कि साम्यवादी दल सत्ता हथिया लेंगे और 'राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग से अपराध स्वीकृति करवा लेंगे—जैसा कि चीनी साम्यवादियों ने १९५२ के 'तीन विरोधी' तथा 'पांच विरोधी' अभियानों में किया था। 'समाजवादी कैम्प' के उपकारी प्रभावों के बाधक कारणों को हटा कर ही 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता' को सचमुच बलशाली बनाया जा सकेगा। और केवल तभी नये राज्य 'समाजवादी देशों की पूर्ण समानता, अखण्डता, राज्यीय स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर तथा दूसरे देशों के मामले में एक देश के अथवा कई देशों के हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्तों पर आश्रित स्वतन्त्रता का उपभोग आनन्ददायक

मात्रा में कर सकेंगे'—हंगरी के निवासियों और उनके सुखी पड़ोसियों की भी तो यही दशा है।

ये लक्ष्य सोवियत और चीनी साम्यवादियों के उभयनिष्ठ लक्ष्य हैं—परन्तु इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अत्यन्त कालोचित कार्यसाधक नीतियों के सम्बन्ध में वे परस्पर सहमत नहीं हो पाते। रूसियों की तरह चीनी साम्यवादी भी 'राष्ट्रीय बुर्जुआ' वर्ग को तव तक सहायता देते रहने के पक्ष में हैं जब तक कि वह उपनिवेशी प्रशासन से स्वतन्त्रत होने का अथवा पश्चिम से हुई मैत्री सन्धियों के प्रत्याख्यान का लक्ष्य रखते हुए विरोधी पक्ष में है। परन्तु चीनी इस बात को नहीं मानते कि स्वतन्त्र तटस्थ राष्ट्रों में 'राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग' की सहायता की जाय। गैर-साम्यवादियों से मैत्री सम्बन्ध तभी मान्य होजाना चाहिये जबकि वे अवर भागीदार हों और निर्णायक अधिकार-पदों पर साम्य-वादी अधिष्ठित हों—जैसाकि १९५४ के बाद पूर्वी यूरोप में अथवा १९५० के बाद तिब्वत में अथवा स्वयं चीन में साम्यवादियों की विजय के पश्चात् पहली अवधि में था। समय आने पर गैर-साम्यवादी भागीदारों को नष्ट किया जा सकता है। परन्तु वह मैत्री सम्बन्ध जिसमें प्रधान पद गैर-साम्य-वादियों के हाथ में हों, साम्यवादियों के लिए घातक है। समय आने पर, उनके विरोधी नहीं, अपितु वे ही नष्ट कर दिये जाते हैं। चीनियों के लिये १९२७ की शिक्षा, जबकि च्यांग काई शेक ठीक इसी स्थिति में था और उसने ठीक यही कार्यवाही की, आज तक भी स्मृति में ताजा है। मिश्र में १९६० में नासर का प्रशासन चीनियों की दृष्टि में १९२७ के च्यांगकाईशेक के प्रशासन का ही केवलमात्र एक आधुनिक संस्करण था। च्यांग की तरह, नासर भी साम्यवादियों का उत्पीड़क था। यह सच है कि नेहरू उत्पीड़क नहीं है। परन्तु चीनी साम्यवादी दक्षिणी एशिया में राजनीतिक नेतृत्व के लिये सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भारत को नापसन्द करते हैं और बर्मा में अपनी निजी महत्वाकांक्षाओं के लिए भारत को रुकावट समझते हैं। १९६० में भारतीय-चीनी-सीमा-सम्बन्धी विवाद को 'भारतीय विस्तारवादियों के' विरुद्ध चीन में घृणा का प्रबल अभियान चलाने में प्रयुक्त किया गया। जब सोवियत सरकार ने चीनी दृष्टिकोण से वचनबद्ध होना स्वीकार नहीं किया तो बड़ी कटुता से रोष प्रकट किया गया। तटस्थ राज्यों को, विशेषतया भारत और संयुक्त अरब गणराज्यों को सोवियत संघ द्वारा सहायता देने पर रोष न केवल इस कारण प्रकट किया गया कि इस सहायता में उन साधनों का प्रयोग कर लिया

गया था जो अन्यथा चीन को उपलब्ध हो जाते अपितु इस कारण भी कि यह सहायता सम्भवतः उन उन राज्यों को शक्तिशाली बना देगी जो समाजवाद के मूलतः ही विरोधी हैं और वे इसका उपयोग अपने स्थानीय साम्यवादी दलों का विरोध अथवा दमन तक भी करने में, करेंगे। स्वतन्त्र तटस्थ राष्ट्रीयतावादी सरकारों के प्रति नीति के सम्बन्ध में यह असहमति ही १९६० के चीनी-रूसी झगड़े में विवाद के दो प्रमुख विषयों में से एक विषय था (दूसरा मुख्य विवादास्पद विषय युद्ध के विना समाजवाद की विजय का था।) दिसम्बर १९६० में ८१ साम्यवादी दलों ने जो मास्को-घोषणा-पत्र प्रकाशित किया उसमें 'जनता जनतंत्र' और 'राष्ट्रीय जनतन्त्र' दोनों दो भिन्न-भिन्न बातें हैं—इस प्रकार की नई विचारधारा प्रचलित करके समझौता कराने का प्रयत्न किया गया। ऐसा लगेगा कि इन दोनों प्रकार के प्रशासनों में व्यावहारिक भेद यही है 'जनता जनतंत्र' में सारी वास्तविक सत्ता साम्यवादियों के हाथ में रहती है और दूसरे दलों के केवल सत्ताहीन अवशिष्ट भागों को ही साम्यवादियों द्वारा प्रशासित 'संयुक्त सरकारों' में प्रधानतया सजावटी भूमिका अदा करने की अनुमति होती है; 'राष्ट्रीय जनतन्त्र' में गैर-साम्यवादियों के हाथ में वास्तविक सत्ता पर्याप्त मात्रा में हो सकती है और साम्यवादी पर्दे के पीछे थोड़े-बहुत प्रभावशाली पदों तक ही सीमित रहें—यह सम्भव है। गिनी और क्यूबा में १९६१ में ऐसी ही स्थिति प्रतीत होती है। निस्सन्देह, इसका प्रयोजन यह है कि पर्याप्त शीघ्र ही साम्यवादी प्रभाव को साम्यवादी सत्ता में परिणत कर दिया जायगा और 'राष्ट्रीय जनतन्त्र' 'जनता-जनतन्त्र' बन जायेंगे। यह असम्भव प्रतीत होता है कि सोवियत और चीनी अधिकारी 'राष्ट्रीय जनतन्त्र' के अर्थ पर अथवा विकास के वेग के विषय में सरलता से सहमत हो जायेंगे।

नया साम्राज्यवाद

सोवियत संघ तीन अर्थों में साम्राज्यवादी राष्ट्र है। सोवियत सरकार को नौ करोड़ प्रजाजन रूसी साम्राज्य से उत्तराधिकार में मिले हैं; ये प्रजाजन छोटे-बड़े बहुत-से राष्ट्रों में विभक्त हैं और सोवियत सरकार इनको राष्ट्रीय स्वतन्त्रता वरण करने का अधिकार देने का निषेध इतनी निर्दयता से करती है जितनी निर्दयता जारों ने भी नहीं बरती। दूसरी बात यह है कि पूर्वी यूरोप के सात राष्ट्रों में विभक्त ९ करोड़ और व्यक्तियों पर इसका अप्रत्यक्ष शासन है—इस प्रदेश पर १९४४-४५ में सोवियत सेना ने अधिकार किया था; इसी तरह मंगोलिया और उत्तरी कोरिया में एक करोड़ और व्यक्तियों पर इसका शासन है। तीसरी बात यह है कि सोवियत संघ का साम्यवादी दल अपने सिद्धान्तों और अपने विधि-विधानों को विश्व के दूसरे राष्ट्रों पर विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों और युक्तियों से लादने की कोशिश करता है।

बहुत-कुछ ऐसी ही बात चीनी-जनता-गणराज्य (चायनीज़ 'पीपुल्स' रिपब्लिक) के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं, यद्यपि इस विषय में प्रत्यक्ष साक्षी कम प्रचुर है और ऐतिहासिक रिकार्ड और भी कम हैं। १९५३ में चीन में साढ़े तीन करोड़ गैर-चीनी आबाद थे। थाइयों से सम्बद्ध कुछ छोटी-छोटी जातियाँ संस्कृति में भले ही आदिम रही हों और उनकी कोई राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की परम्परा विद्यमान न हो, परन्तु वे किसी भी बात में उष्ण प्रदेशीय अफ्रीका की उन जातियों से अवर नहीं हैं जिनकी ओर से चीनी साम्यवादियों के प्रवक्ता खूब चिल्लाकर स्वतन्त्रता की मांग करते हैं। चीनी साम्राज्य ने पिछली शताब्दि में बर्मा अथवा वियेतनाम सरीखे पड़ोसी देशों पर जो कुछ-कुछ अस्पष्ट दावे किये थे उनका उत्तरदायित्व साम्यवादी चीन ने कहाँ तक लिया है, यह अभी तक स्पष्ट नहीं है। परन्तु चीनी साम्यवादियों ने तिब्बत पर बड़ी क्रूरता से अधिकार जमाया और इस बौद्ध पारम्परिक राष्ट्र पर अपना प्रशासन थोप दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी वियेतनाम का

चीन से वही पिछलग्गू देश का-सा सम्बन्ध है जो पूर्वी यूरोपीय देशों का सोवियत संघ से है। उन विदेशस्थ (समुद्र पार के निवासी) चीनियों को, जिनकी १९५३ में संख्या लगभग सवा करोड़ थी, साम्यवादी सरकार दक्षिण-पूर्वी एशिया में चीनी नीति के प्रचार का साधन उससे भी अधिक समझती थी जितना कि इसके पूर्ववर्ती समझते थे। और अन्तिम बात यह है कि संसार में साम्यवाद के प्रसार के लिये आवश्यक मिशनरी उमंग की दृष्टि से चीनी सोवियत साम्यवादियों से किसी भी अंश में कम नहीं हैं। जो लोग न केवल चीनी इतिहास तथा संस्कृति से ही परिचित हैं अपितु साम्यवाद के सिद्धान्तों और ऐतिहासिक अनुभव को भी जानते हैं उनको चीनी नीति के इन समीक्षकों का ध्यान से अध्ययन करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत रचना का सम्बन्ध केवल सोवियत नीति से ही है और इसी कारण चीनी साम्यवाद का उल्लेख केवल सरसरी तौर पर ही किया जाना सम्भव है।

सोवियत साम्यवादी इस बात का बिल्कुल निषेध कर देते हैं कि वे साम्राज्यवादी हैं। इसके विपरीत वे तो साम्राज्यवाद-विरोधी विश्वव्यापी आन्दोलन के नेता होने का दावा करते हैं। 'साम्राज्यवादी' शब्द एकमात्र संयुक्त राज्य अमरीका और इसके मित्र राष्ट्रों के लिये आरक्षित है। इतिहास के सोवियत संस्करण के अनुसार, गैर-रूसी जातियों ने १९१७ के बाद के वर्षों में सोवियत रूस के भीतर रहने का स्वेच्छा से निश्चय किया। मंगोलिया, आजरबाइजान, जार्जिया, बाल्टिक गणराज्यों और पूर्वी पोलैंड में सोवियत सेना उन देशों की जनता की प्रतिचेष्टा में ही उनकी 'मुक्ति' के लिये प्रविष्ट हुई थी। पूर्वी यूरोप में १९४४ के बाद 'मेहनतकश जनता' ने साम्यवादी दलों के नेतृत्व में, संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा समर्थित प्रतिक्रियावादियों को हराया था। जहाँ तक सोवियत सेना द्वारा उनकी विजय में अंशदान का प्रश्न है, यह तो जनता की इच्छा के प्रत्युत्तर में केवलमात्र एक उदार भाई की-सी चेष्टा ही थी। नवम्बर, १९५६ में सोवियत सेना ने अमरीकियों से सहायता प्राप्त फासिस्टों और प्रतिक्रियावादी गिरोहों से हंगरी को मुक्त करने के कार्य में जानोस कादार की 'मजदूर-किसान सरकार' की उदार निःस्वार्थ सहायता की थी। और जहाँ तक सोवियत सरकार के साम्यवाद के लिये काम करने का प्रश्न है, वह तो केवल इतिहास की अनिवार्य प्रगति में सहायता मात्र प्रदान करना ही तो है।

इस दृष्टिकोण का आधार कुछ धारणाएँ हैं जिनका यहाँ स्पष्ट वर्णन करना

उचित होगा।

पहली बात तो यह है कि, मानव समाजों की प्रगति का क्रान्ति से समाज-समाजवाद के माध्यम से होना अनिवार्य है और इस प्रक्रिया में मजदूर वर्ग की भूमिका मसीहा की रहती है—यह मार्क्सवादी सिद्धान्त सर्वसम्मत सच्चाई है।

दूसरी बात यह है कि मजदूर वर्ग का दल सोवियत संघ का साम्यवादी दल ही है। नवम्बर, १९१७ में लेनिन के नेतृत्व में पेत्रोग्राद के मजदूर वर्ग के अधिकांश की सहायता से बोल्शेविक दल ने सत्ता हथिया ली। इस से यह परिणाम निकलता है कि दल ने मजदूरों की आकांक्षाओं का न केवल उस समय ही प्रतिनिधित्व किया (सम्भवतः अधिकतर इतिहासकार इस बात से तो सहमत होंगे ही) अपितु इसने सदा ही, पहले रूस में और फिर उन सभी देशों में जिनमें बोल्शेविक नमूने पर दल बाद में बने, मजदूर वर्ग के सर्वव्यापी हितों को रूप प्रदान किया। इस बात का निर्णायक कारण यह है कि साम्यवादी दलों में ही ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जो सचमुच के सर्वहारावर्गीय सिद्धान्त—मार्क्सवाद-लेनिनवाद—के विज्ञान के स्वामी हैं। सर्वहारा वर्ग के सिद्धान्त को वे ही समझते हैं। किसी देश-विशेष के सभी मजदूर अपने देश के साम्यवादी दल का समर्थन करते हैं—यह तो एक गौण बात है। वे इसे जानते हों या न जानते हों, मानते हों या न मानते हों, उनके अन्तर्भूत हितों का प्रतिनिधित्व और उनकी रक्षा तो साम्यवादी दल ही करते हैं।

तीसरी बात यह है कि मजदूर वर्ग की आकांक्षा की प्रतिनिधीभूत दल की आकांक्षा को दल का नेता बताते हैं ; ये नेता जब तक नेता हैं सदा ठीक होते हैं। दल के इतिहास में 'भूलें' तो की गई ही हैं। जैसे कि लाखों की ग़लत गिरफ्तारी, १९३६-१९३८ की व्यापक छँटनी में लाखों दलीय सदस्यों को प्राणदण्ड दिया जाना आदि, परन्तु दल कभी गलत नहीं हुआ। दल के नेताओं द्वारा विहित तथा दल के उपकरण द्वारा क्रियान्वित 'दल-सिद्धान्त' सदा शुद्ध रहा है। 'व्यक्तिपूजा' के समय के अत्याचार (स्तालिन के निरंकुश शासन के अन्त के वर्ष) खेदजनक थे। वस्तुतः उनकी कटु निन्दा तो स्तालिन के उत्तराधिकारी ख्रुश्चोव सरीखे प्रामाणिक व्यक्ति ने की। परन्तु उनसे भी दल के नेताओं की ऐतिहासिक निर्भ्रान्तता में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

इससे यह परिणाम निकलता है कि इस बात को तो सोचा ही नहीं जा सकता कि साम्यवादी दल के नेताओं पर साम्राज्यवादी होने का दोष लगाया

जा सकता है । यदि सोवियत संघ के साम्यवादी दल ने किसी देश को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जीत लिया है तो यह विजय केवल 'मुक्ति' ही कहलायेगी और इसका परिणाम सच्ची स्वतन्त्रता और सच्चे सामाजिक न्याय की स्थापना होगा । हां, स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय की परिभाषा वही होगी जो मजदूर वर्ग की इच्छा के प्रतिनिधिभूत सोवियत साम्यवादी दल की इच्छा के प्रतिनिधि सो० सा० दल के नेता बताते हैं ।

* * *

जो व्यक्ति इन धारणाओं को स्वीकार नहीं कर सकते सम्भवत: वे यह परिणाम निकालें कि सोवियत संघ की ग़ैर-रूसी जनता पर तथा यूरोप एवं एशिया की पिछलग्गू जनताओं पर विद्यमान सोवियत प्रभुत्व साम्राज्यवाद है और यह परिणाम निकालें कि विस्तार के विश्वव्यापी साम्यवादी लक्ष्य साम्राज्यवादी हैं । परन्तु इसका यह अर्थ होना आवश्यक नहीं है कि यह सोवियत वृत्त की थोक नैतिक निन्दा है । इस लेखक की सम्मति के अनुसार सोवियत वृत्त में बुरे और अच्छे—दोनों प्रकार के अंश हैं । इस लेखक की सम्मति में, 'साम्राज्यवाद' में किसी भी प्रकार से निरी बुराई ही नहीं है । उदाहरण के लिये अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने बहुत से अन्याय-कार्यों के रूप में, विशेष कर अफ्रीकी जनता के सामाजिक ढाँचे के अंगभूत, अत्यन्त शिक्षित और पश्चिमीकृत तत्त्वों के मानमर्दन के रूप में, निश्चय ही बुराई उत्पन्न की है । साथ ही इसने बहुत से लाभ भी प्रदान किये हैं । इस बात को ब्रिटिश साम्राज्य के साथ पूर्वकाल में सम्बद्ध लोगों में से बहुतों ने, विशेषकर भारतीयों, पाकिस्तानियों, मलयाइयों और नाइजीरियाइयों ने स्वीकार किया है । सोवियत साम्राज्य ने इसी प्रकार हिंसा तथा क्रूरता उपस्थित की हैं तो साथ ही प्रगति और सुअवसर भी प्रदान किये हैं ।

सोवियत शासन के कई लाभ तो शाही रूसी युग से ही विद्यमान हैं । तुर्केस्तान में समरकन्द अथवा कोकांद के पारम्परिक शासकों के शासन में सार्वजनिक कानून और प्रबन्ध की जो अवस्था थी, रूसी शासन में निश्चय ही उससे कहीं अधिक अच्छी अवस्था रही थी । जनरल कौफ़मैन ने जो भूमिसुधार कार्यान्वित किया था वह सामाजिक न्याय का एक महान् कार्य था । तुर्केस्तान में कपास की खेती का विकास जारों के शासनकाल में शुरू हो गया था । सोवियत युग में आर्थिक विकास को बहुत आगे कौर अधिक वेग से बढ़ाया गया है । गैर-रूसी आबादी के क्षेत्रों में नये उद्योग चालू किये गये हैं । ग्रामीण स्कूल के

स्तर से लेकर विश्वविद्यालय तक, प्रत्येक स्तर पर, शिक्षा में व्यापक प्रगति करली गई है। इस क्षेत्र में इतिहास में केवल एक ही उदाहरण ऐसा है जो इसकी बराबरी कर सकता है—वह है मीजी युग में जापान का ।

निश्चय यह तर्क भी दिया जा सकता है कि सोवियत प्रशासन की भौतिक सफलता ब्रिटिश साम्राज्य की भौतिक सफलता से अधिक है । परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान में रखनी चाहियें। पहली बात तो यह है कि रूसी साम्राज्य की गैर-रूसी जातियाँ संस्कृति के सामान्य स्तर के दृष्टिकोण से, अफ्रीका स्थित ब्रिटिश उपनिवेशों की जातियों और भारतीयों की भी अपेक्षा बहुत अधिक समुन्नत थीं । दूसरी बात यह है कि दोनों अवस्थाओं में जन्म-भूमीय तथा उपनिवेशी जातियों की जनसंख्या के अनुपातों में बहुत बड़ा अन्तर था। रूसियों तथा सकल गैर-रूसियों का अनुपात लगभग १:१ था तो रूसियों तथा मध्य एशियाई मुस्लिमों का अनुपात ५:१ था जबकि अंग्रेजों से एशियाई तथा अफ्रीकी प्रजाओं का अनुपात १:५० था।

परन्तु ब्रिटिश उपनिवेशों की भौतिक उन्नति के कम आकर्षक होने का एक अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि ब्रिटिश शासकों ने उपनिवेशी जातियों के धार्मिक विश्वासों, उनकी परम्परागत प्रथाओं और उनकी सामाजिक संस्थाओं के प्रति एक दूसरे ही प्रकार का रुख अपनाये रखा । ब्रिटिश सरकारों और प्रबन्धकों का झुकाव प्रायः विद्यमान सामाजिक पुरोहितशाहियों, और संस्कृतियों का आदर करने का रहा और उन्होंने ब्रिटिश विचारधाराओं अथवा रीतिरिवाजों को उन पर बलात् नहीं लादना चाहा। फिर प्रदेशों और युगों में भी बड़े-बड़े अन्तर विद्यमान थे ही । १८५७ के विद्रोह के पश्चात् स्थानीय विधि-विधानों में हस्ताक्षेप करने की अनिच्छा और अधिक हो गई। यह युक्ति दी जा सकती है कि ब्रिटिश शासन ने मन की आदिम (प्राचीन) आदतों को कृत्रिम रूप से देर तक चालू रखा और अफ्रीका के कुछ भागों में 'अप्रत्यक्ष-शासन' के सिद्धान्त का पालन करने के कारण प्रतिक्रियावादी सरदारों को सीमा से अधिक महत्त्व मिल गया अथवा जहाँ इनका कोई ठोस आधार विद्यमान नहीं था वहाँ भी नये कृत्रिम सरदार बन गये । परन्तु विजेता के सामाजिक मूल्यों को विजित पर बलात् थोपने की अनिच्छा ओछी होना आवश्यक नहीं है। फिर, दूसरे की आदतों और धार्मिक विश्वासों के प्रति सहिष्णुता सिद्धान्त रूप से, तथा व्यवहार में भी, उदार जनतंत्र का एक भाग ही है । सोवियत शासकों के लिये ऐसे कोई निषेध नहीं थे। उनका तो यह विश्वास बना

हुआ था कि उक्रैइनियों, जार्जियाइयों, उज्बेकों, याकूतों, पोलों, रूमानियाइयों तथा शेष सभी के हित की क्या बात है इसका ठीक ज्ञान उन्हें है और इन लाभों को इन भाग्यशाली लोगों तक पहुँचाने के उनके काम में कोई बाधा नहीं डाल सकता। यदि आवश्यकता पड़े तो प्राणदण्डों, निर्वासनों और सामूहिक अकाल से भी काम लिया जाना चाहिये।

* * *

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पश्चिमी और सोवियत साम्राज्यवादों के तुलनात्मक पापों के विषय में एशियाई तथा अफ्रीकी बौद्धिकों के मत भिन्न-भिन्न हैं। उन्हें सोवियत साम्राज्यवाद के पापों की अपेक्षा पश्चिमी साम्राज्यवादों के पापों का ज्ञान अधिक है। कुछ लोग यह युक्ति दे सकते हैं कि आर्थिक प्रगति और सामूहिक शिक्षा इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि आवश्यक रूप से मास्को-निर्दिष्ट नीति वाले साम्यवादी दलों की आधीनता और एकदलीय शासन के रूप में भी उनका मूल्य चुकाना उचित ही है। दूसरों का यह मत होना सम्भव है कि साम्यवादी दलों पर मास्को का कोई नियन्त्रण नहीं है। सोवियत गुट्ट से बाहर के निवासी बहुत ही कम एशियाई अथवा अफ्रीकियों को इस बात का व्यक्तिगत ज्ञान है कि साम्यवादी शासन के शासित होने का क्या अर्थ है। साम्यवादी शासन के आधीन रहने वाले एशियाइयों से बहुत ही कम लोगों ने बातचीत की है और जिन लोगों से बातचीत की गई है उनमें अधिकतर साम्यवादीदल के सरकारी प्रतिनिधि ही थे—जैसे कि सोवियत संघ के साम्यवादी दल के सभापतिमण्डल (प्रेसिडियम) का एक सदस्य एन० ए० मुखित्दिनोव। किसी यात्री अंग्रेज अथवा फ्रांसीसी की अपेक्षा यात्री भारतीय अथवा मिश्री के लिये यह पता लगाना अधिक सरल नहीं है कि किसी उज्बेक सामूहिक किसान अथवा एक आजरबैजानी श्रमिक की आन्तरिक भावनाएँ क्या हैं।

परन्तु सोवियत गुट्ट से बाहर के एशियाई तथा अफ्रीकी राष्ट्रीयतावादी बार-बार और गम्भीरता से घोषणा करते हैं कि उनको जो आर्थिक प्रगति उनके विदेशी स्वामियों ने सौंपी है वह पर्याप्त नहीं है और यह कि उन्हें सबसे बढ़कर अपने देशवासियों के लिये स्वाधीनता और आज़ादी की, उन्हें किस प्रकार का आर्थिक विकास चाहिये इस बात का निर्णय करने की, स्वतंत्रता चाहिये। यदि 'अफ्रीकियों' के लिये 'संघ' बनाये जाने के आर्थिक लाभों के विषय में (बहुत से ठोस तथ्यों पर आधारित) सर रॉय वेलेन्स्की की युक्तियाँ रोडेशियाई अफ्रीकी बौद्धिक वर्ग को प्रभावित नहीं कर पातीं तो यह भी

सन्देह होना सम्भव हो जाता है कि सोवियत साम्यवादी नेताओं की ऐसी ही युक्तियाँ शिक्षित उज़्बेकों और आजरबैजानियों को भी प्रभावित कर पाती होंगी या नहीं। परन्तु इधर तो श्री कौंज, श्री न्कोमो और डॉ० बोडा अपनी राष्ट्रीय सम्मतियों को अभिव्यक्त कर सकते हैं और करते हैं कि उनका देश स्वतंत्र होना चाहिये परन्तु कोई भी आज़रबैजानी उज़्बेक यह अभिलाषा प्रकट करने का साहस नहीं कर सकता कि उसका देश स्वतंत्र होना चाहिये अथवा कोई रूमानियाई अथवा हंगेरियन यह सुझाव देने का साहस नहीं कर सकता उसके देश को सोवियत संघ के साथ हुए अपने मैत्री सम्बन्ध को छोड़ देना चाहिये। इमरे नागी ने केवल यही कुछ किया था और उसका भाग्य क्या रहा, यह किसी को भूला नहीं है।

सोवियत ढंग के समाजवाद की दिशा में यात्रा एक इकतरफ़ा यात्रा हैं; उधर से वापसी टिकट है ही नहीं।

* * *

साम्यवाद के प्रसार की सोवियत योजनाओं के लक्ष्य इस समय अल्प विकसित समाज बने हुए हैं। राष्ट्रीयता की छल योजना से बड़े-बड़े सुयोग मिल जाते हैं। भारत में तथा उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका में भाषायी राष्ट्रीयतावाद की सम्भाव्यताएँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में तथा अन्यत्र जाति-विद्वेष द्वारा स्वार्थ-साधन की नीति के कारण सोवियत नेता भले ही कुछ क्षेत्रों में अपने प्रति सहानुभूति गँवा बैठें परन्तु दूसरे क्षेत्रों में इसी कारण उन्हें सहानुभूति का प्राप्त हो जाना सम्भव है, स्वतन्त्र राज्यों के अल्पसंख्यकों तथा उपनिवेशों में चालू राष्ट्रीय आन्दोलनों से भी इनको सहानुभूति का मिल जाना सम्भव है।

सोवियत विस्तार को अगली दशियों में कोई बड़ी विजय प्राप्त होगी या नहीं यह बात इसके मार्ग में आने वाले प्रतिरोधों पर और आंशिक रूप से उस जोश पर निर्भर है जिससे कि इस विस्तार को चलाया जाता है।

प्रतिरोध तो तब तक असम्भव है जब तक कि संसार में सैनिक शक्ति का एक ऐसा केन्द्र विद्यमान न हो जहाँ से कि सोवियत शक्ति को प्रतिसन्तुलित किया जा सके। इस समय संयुक्तराज्य अमरीका इस प्रतिसन्तुलन को प्रदान करता है। यदि यह प्रतिसन्तुलन न होता तो फिर सोवियत संघ तथा चीन की सीमाओं पर स्थित कोई भी राज्य अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर पाने की आशा तक भी नहीं कर सकता था। यह बात कि इन राज्यों को संयुक्त राज्य

से मित्रता तो नहीं करनी चाहिये परन्तु अमरीका द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा का, इसमें कोई अंशदान किये बिना ही, क्यों उपभोग करना चाहिये—उनके राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से भलिभाँति समझ में आ सकती है। परन्तु कुछ राज्यों ने दायित्व का कुछ भाग सम्भाल लेने का निश्चय कर लिया है। यदि कोई भी देश संश्रय के आभार को स्वीकार न करना चाहता तो स्वयं शक्ति का केन्द्र आतंक के वर्तमान चिन्ताजनक अस्थिर सन्तुलन को बनाये रखने के लिये अनुपयुक्त सिद्ध होता। निस्सन्देह सोवियत नीति का यही लक्ष्य है; वह अमरीका के मित्रों को तटस्थ और तटस्थों को सोवियत गुट्ट के पिछलग्गू बनाने का प्रयत्न करती है।

परन्तु साम्यवादी विस्तार के प्रतिरोध का, सैनिक प्रतिरोध तो एक ही अंश है। नये साम्राज्यवाद से केवल तभी टक्कर ली जा सकती है जब कि सैनिक शक्ति के साथ राजनीतिक और सामाजिक कार्यवाही, और आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी नीतियों का संयोजन कर लिया जाय; परन्तु इनका विमर्श इस छोटी-सी रचना में नहीं किया जा सकता।

* * *

दूसरा प्रमुख घटक—वह जोश जिससे कि नये साम्राज्यवाद को चलाया जाता है—सोवियत समाज के भीतरी विकास पर और सोवियत संघ तथा चीन के आपसी सम्बन्धों पर निर्भर है। ये भी इतने विशाल विषय हैं कि वर्तमान रचना की परिधि से बहुत अधिक दूर तक बाहर निकले हुए हैं। तथापि यहां एक सामान्य-सी टिप्पणी की जानी सम्भव है।

ब्रिटिश साम्राज्य के विक्टोरिया-शासन-कालीन प्रभु उस शासकवर्ग के थे जिसका उद्भव कुछ तो पूर्ववर्ती शताब्दी में ब्रिटिश भारत के अर्ध-कुलीन तन्त्री अर्ध-व्यापारी संस्थापकों में से हुआ था और कुछ औद्योगिक क्रांति से निर्मित नये मध्य वित्त वर्ग में से हुआ था। इन लोगों के नैतिक और राजनीतिक आदर्श बहुत ऊँचे थे और वे समझते थे कि वे साम्राज्य में इन आदर्शों को व्यवहार में ला रहे हैं। उन्होंने पूरे आत्मविश्वास के साथ शासन किया। बाद की सन्ततियों ने भी जब उन्हीं नैतिक और राजनैतिक आदर्शों का विकास कर लिया तो उन्होंने देखा कि ये आदर्श दूसरे राष्ट्रों पर साम्राज्यशाही प्रभुत्व के तथ्यों के प्रतिकूल हैं—इन दूसरे देशों के नेताओं ने उन आदर्शों को अपना लिया और अपने प्रभुओं के विरुद्ध उनका प्रयोग किया। प्रभुओं की विवेक बुद्धि अस्थिर हो उठी, उनका आत्मविश्वास निर्बल हो गया और विशिष्ट

वर्ग ने गद्दी छोड़ दी।

रूसी साम्राज्य के संस्थापकों की तुलना ब्रिटिश साम्राज्य के अठारहवीं सदी के संस्थापकों से की जा सकती है। शाही शासन-भवन के विध्वस्त हो जाने के बाद विशाल देश के रूसी तथा गैर-रूसी आबादी वाले—दोनों क्षेत्रों पर लगभग दस वर्ष तक क्रान्तिकारी बौद्धिक वर्ग तथा प्राचीन प्रशासन के बचे-खुचे निम्नस्तर के कर्मचारियों का संयुक्त शासन रहा। परन्तु १९३० के दशक की बाधित औद्योगिक क्रान्ति ने (जैसा कि पश्चिम में पहले की विनयोजना की औद्योगिक क्रान्तियाँ निर्माण कर चुकी थीं) व्यवस्थापकों, प्रविधिज्ञों और विशेषज्ञों का एक विशाल नया प्रवरवर्ग बना दिया। आज १९६० के दशक में यही सोवियत संघ के प्रशासक बने हुए हैं; ये लोग पश्चिमी समाज के व्यापारियों, सिविल कर्मचारियों और स्वतन्त्र पेशेवरों के बराबर हैं। ये सोवियत राज्यीय बुर्जुआ हैं जो कई बातों में पश्चिम के पूँजीपति निजी बुर्जुआओं से भिन्न है और कई बातों में इनके समान हैं। निजी नैतिक आचरणों तथा सौन्दर्य बोध विषयक अभिरुचि में इस राज्यीय बूर्जुआवर्ग का दृष्टिकोण विक्टोरिया-युगीन है—यह बात प्रायः बताई जाती है। शायद इससे अधिक महत्वपूर्ण समानता उनके आत्मविश्वास में, उनकी साधुम्मन्यता में, अपने लोगों के लिए तथा दूसरे के लिये क्या ठीक है इस बात का उन्हें ही सर्वोत्तमज्ञान है—उनके इस दृढ़ विश्वास में, अपने शासन को सख्ती से बनाये रखने और इसको दूसरों तक फैलाने के दृढ़ निश्चय में, दिखाई देती है। सोवियत इतिहास लेखकों का यह तर्क कि ज़ारों द्वारा की गई मध्य-एशिया की विजयों का उद्देश्य अन्त में प्रगति था, किपलिंग के तर्कों का मार्क्सवादी-लेनिनवादी संस्करण ही तो है।

आज कितने ही आधुनिक राष्ट्रों के इतिहास में यह बात दिखाई दे रही है कि नये वर्गों के सत्तारूढ़ होने के साथ-ही-साथ एक जल्दबाजी तथा आत्म-साधुम्मन्त्र राष्ट्रीयता की भावना जन्म लेती है—इन दोनों का यह सम्बन्ध सोवियत समाज पर भी कम लागू नहीं है। सोवियत प्रवक्ता इस बात पर बल देते हैं कि उनके समाजवादी समाज में गुणों के साथ अब पूर्ववर्ती समाजों के पाप नहीं रहे हैं। परन्तु दुःखद तथ्य यह है कि सोवियत समाज में ऐसा कोई रहस्यमय विशेष गुण विद्यमान नहीं है जो इसको पाप से निरापद कर दे; इसके विपरीत, किसी समाज का यह विश्वास ही कि मुझमें अनुपम गुण विद्यमान हैं, आत्म-साधुम्मन्यता के पाप का एक उदाहरण है—इस साधुम्मन्यता के पाप का कारण एक प्रकार का वह सामाजिक परिवर्तन है जो बीसवीं सदी के सोवि-

यत संघ में तथा उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय तथा उत्तर अमरीकी समाजों में उभयनिष्ठ है।

यहाँ एक रोचक प्रश्न उपस्थित हो जाता है—पिछली आधी सदी में जैसे ब्रिटेन तथा फ्रांस में आत्म-साधुम्मन्यता आत्मसंशपालुता बन गई, अधिकार के निष्करुण प्रयोग के स्थान पर विशिष्ट वर्ग ने सिंहासन त्याग दिया, क्या वही बात सोवियत संघ में भी फिर घटित हो सकती है? यदि ऐसा हुआ तो लाभ किसको पहुँचेगा—सोवियत साम्राज्यवाद के भय से बची हुई यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका की जनताओं को अथवा अपेक्षतया कनिष्ठ, जल्दबाज़ तथा और भी अधिक आत्म-साधुम्मन्य चीन के साम्राज्यवाद को?

१६६१ में सोवियत समाज के प्रवर वर्ग में तो परिवर्तन के अनेक लक्षण दिखाई पड़ते हैं, परन्तु राजनीतिक विशिष्ट वर्ग-अथवा संकुचित अर्थ लें तो, साम्यवादी दल के नेतृत्व में अधिकारत्याग का नाममात्र का भी चिह्न नहीं दीख पड़ता। नये साम्राज्यवाद का जोश और उसकी निर्ममता दोनों ही अभी तक ज्यों-के-त्यों दिखाई पड़ते हैं।

रूसी साम्राज्य का विकास

१ और २
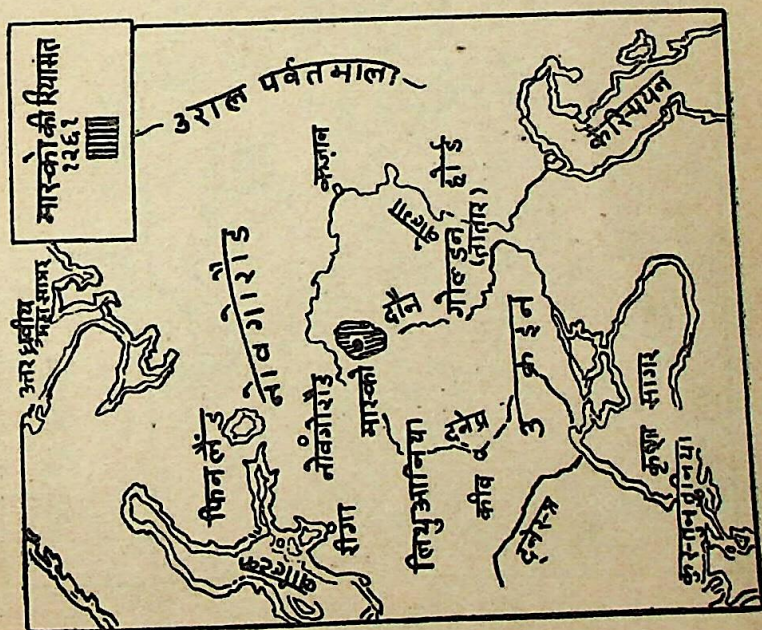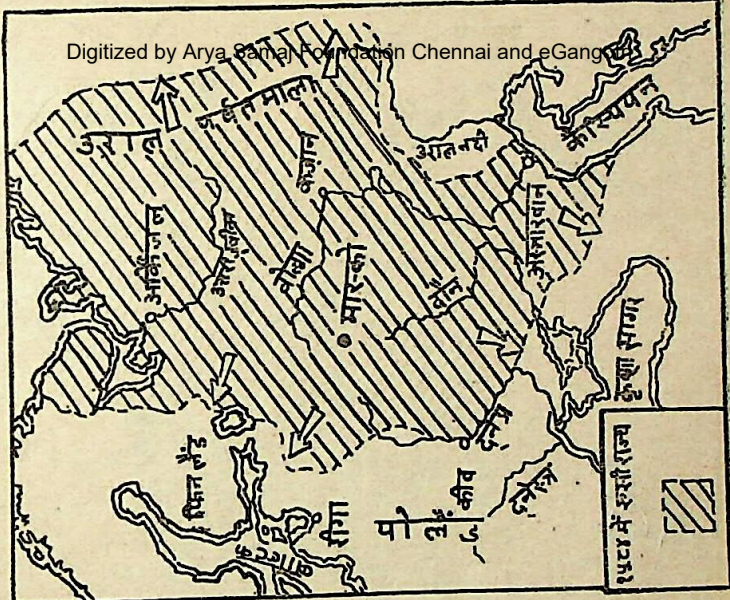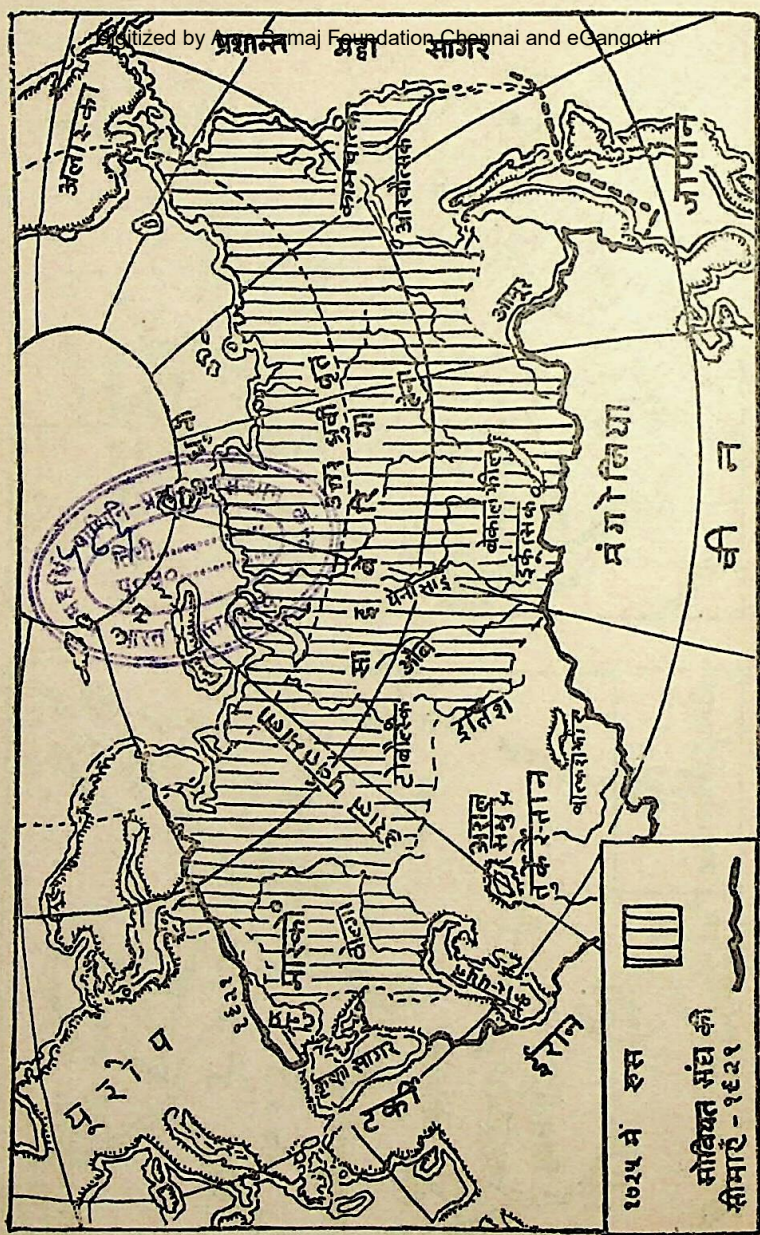
रूसी साम्राज्य का विकास

रूसी साम्राज्य का विकास